पार्श्वनाथ विद्याश्रम व्याख्यानमाला पुष्प—१

प्राकृत भाषा

[पार्श्वनाथ विद्याश्रम द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला में हिन्दू यूनिवर्सिटी में दिए गए तीन व्याख्यान]

व्याख्याता

प्रबोध बेचरदास पंडित M. A., Ph. D. (London)

संस्कृताध्यापक, ला० द० आर्ट्स कालेज और म० ग० साइन्स इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

बनारस—५

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

१९५४
डेढ़ रुपया

मुद्रक
शारदा मुद्रण
बनारस ।

प्रकाशक की ओर से

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम की बहुविध प्रवृत्तिओं में एक यह भी योजना थी कि हिन्दू यूनिवर्सिटी में समय समय पर विशेषज्ञों के द्वारा जैनधर्म और प्राकृत भाषा से संवद्ध विषयों की व्याख्यानमाला का आयोजन हो। तदनुसार प्रथम व्याख्यानमाला का आयोजन सितम्बर १९५३ में हुआ और डा० प्रबोध पंडित Ph. D. के प्राकृतभाषा के विषय में तीन व्याख्यान हिन्दू यूनिवर्सिटी के भारती महाविद्यालय में हुए। उन व्याख्यानों को प्रस्तुत पुस्तिका के रूप में प्रकाशित करते हुए परम हर्ष हो रहा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जबतक प्राकृत भाषा के अध्ययन को गति नहीं मिलेगी तब तक संस्कृत कुल की भारत की आधुनिक भाषाओं का अध्ययन भाषादृष्टि से अधूरा ही रहेगा। प्रस्तुत व्याख्यानों में डा० प्रबोध पंडित ने प्राकृत भाषा के विकास की कथा अतिसंक्षेप में दी है। उनकी मातृभाषा गुजराती होते हुए भी उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही व्याख्यान दिए हैं। इससे हिन्दीभाषी विद्वानों का ध्यान यदि प्राकृत भाषा के विशेषाध्ययन की ओर आकृष्ट हुआ तो उनका श्रम सफल होगा।

व्याख्यानमाला के लिए डा० प्रबोध पंडित अहमदाबाद से बनारस आए, डा० राजबली पाण्डेय ने व्याख्यानमाला की आयोजना अपने भारती महाविद्यालय में की, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, डा० टी० आर० वी० मूर्ति तथा डा० राजबली पाण्डेय ने व्याख्यानों के अवसर पर अध्यक्षपद को सुशोभित किया—एतदर्थ इन सब विद्वानों का मैं आभारी हूँ। पार्श्वनाथ विद्याश्रम के उत्साही मंत्री श्री हरजसरायजी जैन के संपूर्ण सहकार के बिना यह आयोजन संभव ही नहीं था अतएव उनको भी धन्यवाद देता हूँ।

दलसुख मालवणिया
संचालक,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम व्याख्यानमाला

बनारस यूनिवर्सिटी
ता० २७-४-५४

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

१९५४
डेढ़ रुपया

मुद्रक
शारदा मुद्रण
बनारस।

प्रकाशक की ओर से

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम की बहुविध प्रवृत्तिओं में एक यह भी योजना थी कि हिन्दू यूनिवर्सिटी में समय समय पर विशेषज्ञों के द्वारा जैनधर्म और प्राकृत भाषा से संबद्ध विषयों की व्याख्यानमाला का आयोजन हो। तदनुसार प्रथम व्याख्यानमाला का आयोजन सितम्बर १९५३ में हुआ और डा० प्रबोध पंडित Ph. D. के प्राकृतभाषा के विषय में तीन व्याख्यान हिन्दू यूनिवर्सिटी के भारती महाविद्यालय में हुए। उन व्याख्यानों को प्रस्तुत पुस्तिका के रूप में प्रकाशित करते हुए परम हर्ष हो रहा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जबतक प्राकृत भाषा के अध्ययन को गति नहीं मिलेगी तब तक संस्कृत कुल की भारत की आधुनिक भाषाओं का अध्ययन भाषादृष्टि से अधूरा ही रहेगा। प्रस्तुत व्याख्यानों में डा० प्रबोध पंडित ने प्राकृत भाषा के विकास की कथा अतिसंक्षेप में दी है। उनकी मातृभाषा गुजराती होते हुए भी उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही व्याख्यान दिए हैं। इससे हिन्दीभाषी विद्वानों का ध्यान यदि प्राकृत भाषा के विशेषाध्ययन की ओर आकृष्ट हुआ तो उनका श्रम सफल होगा।

व्याख्यानमाला के लिए डा० प्रबोध पंडित अहमदाबाद से बनारस आए, डा० राजबली पाण्डेय ने व्याख्यानमाला की आयोजना अपने भारती महाविद्यालय में की, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, डा० टी० आर० वी० मूर्ति तथा डा० राजबली पाण्डेय ने व्याख्यानों के अवसर पर अध्यक्षपद को सुशोभित किया—एतदर्थ इन सब विद्वानों का मैं आभारी हूँ। पार्श्वनाथ विद्याश्रम के उत्साही मंत्री श्री हरजसरायजी जैन के संपूर्ण सहकार के बिना यह आयोजन संभव ही नहीं था अतएव उनको भी धन्यवाद देता हूँ।

दलसुख मालवणिया

बनारस यूनिवर्सिटी

ता० २७-४-५४

संचालक,

पार्श्वनाथ विद्याश्रम व्याख्यानमाला

निवेदन

ये व्याख्यान सितम्बर १९५३ में पार्श्वनाथ विद्याश्रम के उपक्रम से कॉलेज ऑफ् इन्डोलोजी, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में जैसे दिए गए थे वैसे ही छपे हैं। मेरी मातृभाषा गुजराती है, और मेरी हिन्दी में जो कुछ गलतियाँ रह गई हों उसे जैसे श्रोताजनों ने क्षन्तव्य गिनी थीं वैसे पाठकजन भी गिनेंगे ऐसी आशा है। व्याख्यानों में जो कुछ कमी हो या त्रुटि हो उसकी ओर मेरा ध्यान खींचने की पाठकजन से विनंति है।

व्याख्यानों की पांडुलिपि देख कर हिन्दी सुधारने के लिए मैं प्राध्या० रणधीर उपाध्याय एम० ए० साहित्यरत्न का और व्याख्यानों की छपाई में परिश्रम करने के लिए प्राध्या० दलसुख मालवणिया का मैं ऋणी हूँ।

प्रोफेसर्स क्वार्टर्स
अहमदाबाद—९
मे, १९५४

प्र० बे० पंडित

१

प्राकृत की ऐतिहासिक भूमिका

आर्य भाषा का इतिहास काफी प्राचीन है। किसी भाषा का इतना प्राचीन इतिहास उपलब्ध नहीं है। हमारी दृष्टि से हम इसको दो विभागों में विभाजित कर सकते हैं। पहला आर्य ईरानी कुल का उत्तर कालीन विकास और दूसरा उसका पूर्व स्वरूप इन्डोयूरोपियन भाषा कुल से संबंध। वस्तुतः, यह दोनों इतिहास एक दूसरे से संलग्न तो हैं ही, इस वास्ते एक का अध्ययन करते समय दूसरी ओर दृष्टि रखना आवश्यक हो जाता है। प्रस्तुत व्याख्यानों का विषय भारत में आई हुई आर्य भाषा के विकास की मात्र एक अवस्था प्राकृत भाषा की आलोचना करने का है—प्राकृत भाषाएँ भारत के भाषाइतिहास की एक अत्यन्त आवश्यक भूमिका है। एक ओर से वर्तमान काल की बोलचाल की नव्य भारतीय आर्य भाषाएं और दूसरी ओर से प्राचीनतम भारतीय आर्य भाषा जैसे कि वेद की भाषा, यह दोनों स्वरूपों के बीच की जो भारतीय भाषाइतिहास की अवस्था है उसको हम प्राकृत का नाम दे सकते हैं। किसी न किसी तरह के प्राकृत संक्रमण के पश्चात् ही प्राचीन भारतीय आर्यभाषा नव्य भारतीय आर्यभाषा में परिणत हो सकी। भाषाइतिहास का एक महत्त्व का सिद्धांत क्रमिकता (continuity) है। ध्वनि संक्रमण आकस्मिक वा अनियंत्रित नहीं किन्तु क्रमशः और सुनियंत्रित होते हैं, इसी वजह से किसी भी भाषासमाज को अपने पुरोगामी वा अनुगामी सामाजिकों से वह भाषादृष्टि से विच्छिन्न हो गया है ऐसा अनुभव नहीं होता। भाषा समाज की एक धारक शक्ति है और इसलिए उसका विकास नियत क्रमिक रूप से ही होता है।

भारत में आर्य भाषा के प्राचीनतम स्वरूप को हम प्राचीन भारतीय आर्य भाषा कहते हैं। जब आर्य प्रजाएँ विजेता की हैसियत से

भारत में आई तब उनकी भाषाको अनेक आर्येतर प्रजाओं की भाषा से मुकाबला करना पड़ा और उसके बाद ही आर्य भाषा ने भारत में अपनी सांस्कृतिक पकड़ जमा ली। वेद काल से लेकर ब्राह्मण काल तक आर्य भाषा इस प्रकार की सांस्कृतिक स्पर्धा में पूर्णतया विजेता रही। और इस काल की आर्य भाषा भारतीय आर्य भाषा की प्रथम भूमिका है। इस काल के बाद आर्य भाषा का स्थल और काल दृष्टि से गतिशील विकास होता रहा, और इस विकास के साथ ही आर्य भाषा की दूसरी भूमिका का आरंभ होता है, यह भूमिका है प्राकृत। यह आर्य प्रजा जब भारत में आई तब भारत में अनेक भाषाभाषी अन्यान्य आर्येतर प्रजाएँ विद्यमान थीं यह हकीकत आज सुविदित है। जब आर्यपूर्व प्रजाएं अपनी भाषा छोड़कर इन आगन्तुक आर्यों की भाषा को अपनाने लगी होंगी, और वह भी भिन्न-भिन्न स्थल पर और भिन्न-भिन्न काल में तब अनेक तरह की प्राकृतों का प्रादुर्भाव हुआ होगा। और इस धारणा से हम अनेक तरह की प्राकृतें पाने की आशा रख सकते हैं। किन्तु, जब प्राकृत साहित्य की ओर दृष्टि करते हैं तब अलग परिस्थिति उपस्थित होती है। उपलब्ध प्राकृतों में प्राचीनतम प्राकृत जैसे कि अशोक के शिलालेख और ऐसे कुछ नमूनों को छोड़कर उत्तरकालीन प्राकृत साहित्य में विशेषतः एक ही तरह की प्राकृत हमको मिलती है। शिष्ट संस्कृतसाहित्य के नमूने पर ही, अधिकतर शिष्ट प्राकृत ही साहित्य में उपलब्ध है। अशोक के बाद शौरसेनी प्राकृत, उसके बाद महाराष्ट्री और उसके बाद शिष्ट अपभ्रंश—काल और स्थल के फलस्वरूप कुछ बोलीभेद को छोड़कर यह एक मात्र शिष्ट शैली का प्रवाह है, और लेखक उत्तर के हों या दक्खिन के, पूर्व के हों या पश्चिम के, लिखते हैं इस एक ही शिष्ट मान्य स्वरूप में। प्राकृत साहित्य का अन्तिम काल— अपभ्रंश काल —अर्वाचीन नव्य भारतीय भाषाओं का पुरोगामी है, फिर भी पूर्व या पश्चिम के अपभ्रंश में पूर्व या पश्चिम की नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की भांति कोई फर्क नहीं है। हम आगे देखेंगे कि यह दुर्भाग्य, भारत के समग्र इतिहास का है। इस पुराणप्रिय देश में लेखक, कवि, विद्वान, सब, जब लिखना आरम्भ करते थे, तब हमेशा प्राचीन और इसी वास्ते शिष्ट भाषा का ही व्यवहार करते थे। फर्क इतना ही था कि कोई शिष्ट संस्कृत में लिखना पसंद करता, तो कोई शिष्ट प्राकृत में, शायद विषया-

नुसार भाषा पसंद करते थे। तत्कालीन बोलचाल की भाषा से उनको कोई सम्बन्ध न था। वर्तमान कालको छोड़कर, भारतमें हमेशा साहित्य और संस्कृति में काफी अंतर रहता ही आया है।

बुद्ध और महावीर से प्राकृत काल का आरम्भ होता है, और यह काल, साहित्यस्वरूप में करीब-करीब विद्यापति, ज्ञानेश्वर आदि नव्य भारतीय आर्य भाषा के आदि लेखकों से चार या पाँच शताब्दी से पहले खतम हो जाता है। भाषाविज्ञानियों की परिभाषा में इनको मध्य भारतीय आर्य (Middle Indo-Aryan) कहते हैं। उसके बाद नव्य भारतीय आर्य भाषाओं (New Indo-Aryan) का आरम्भ दसवीं शताब्दी से होता है।

हमारा प्रस्तुत अध्ययन का विषय है प्राकृत काल। यह काल करीव-करीव पन्द्रह सौ साल तक इस विशाल भारत देश में जारी रहा। कोई भी भाषा इतने काल तक स्थिर रह नहीं सकती, खास करके इस विशाल देश में तो कभी नहीं। भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न स्थल पर तरह-तरह की प्राकृतों का विकास होता चला होगा, और उनके तरह-तरह के नाम भी होंगे। जैसे एक ही लैटिन भाषा कालक्रम से एक जगह स्पेनीश कहलाती है, दूसरी जगह फ्रेंच कहलाती है, कहीं प्रोवाँसाल, कहीं पोर्तुगाली, वैसे ही एक प्रकार की प्राकृत भाषा काल स्थल के भेद से एक जगह गुजराती, दूसरी जगह मराठी, कहीं बँगला, कहीं हिन्दी ऐसे नाम पाती है। प्राकृत के बहुत से भेद उत्तरकालीन वैयाकरणों और साहित्यकारों ने बताये हैं। किन्तु नामों की इस विपुलता से भाषावैज्ञानिक को कुछ भी घबराहट न होनी चाहिये। अमुक भाषा का अमुक नाम क्यों हो गया यह तो एक ऐतिहासिक अकस्मात् है, भाषावैज्ञानिक को उससे खास मतलब नहीं, वह जानता है कि वह नामाभिधान भाषा की किसी विशिष्टता का द्योतक नहीं है। अमुक भाषा को गुजराती कहना और अमुक को मारवाड़ी या विकानेरी कहना, अमुक को बँगला कहना या अमुक को मैथिली इस अभिधान से भाषावैज्ञानिक को कोई झगड़ा नहीं। उसको नाम से वास्ता नहीं, लक्षण से है। उस काल में उस भाषा के व्यावर्तक लक्षण क्या थे यह हकीकत उसकी दृष्टि से अधिक महत्त्व की है। उसी दृष्टि से प्राकृत काल की प्राचीनतम परिस्थिति क्या थी, किस-किस तरह के बोलीभेद

उनमें थे, जो बाद में भिन्न-भिन्न भाषाओं में परिणत हुए, उनका अध्ययन इन व्याख्यानों का प्रधान विषय है।

इस विषय की आलोचना के पहले आर्य भाषा का भारत बाहर का इतिहास और ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति का विकास और उनकी मर्यादाओं पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

आज से करीब-करीब दो सदी पहले मानव के विकासक्रम के अभ्यास के साथ-साथ भाषा के भी विकास का इतिहास है ऐसी प्रतीति होने लगी। अन्यान्य भाषाओं की तुलना शुरू हुई और उनके परस्पर सम्बन्ध की परीक्षा हुई। खास करके, प्रारम्भ में, भाषा को एक इतिहास की दृष्टि से परखने में डार्विन की विचार सरणी से ठीक-ठीक वेग मिला। डार्विन ने दो ग्रंथ लिखे 'डीसेन्ट ऑव मेन' और 'ओरिजिन ऑव स्पीशीभ्क'। इनके अतिरिक्त जो अन्य लेख लिखे उसमें उन्होंने भाषा की उत्पत्ति के बारे में भी ऊहापोह किया है। भाषा की उत्पत्ति का यह प्रश्न आज तो भाषाविज्ञानियों ने छोड़ ही दिया है, किन्तु डार्विन की विचार परम्परा के असर से भाषाविज्ञान के आरम्भ काल में ही जीव-विज्ञान की तुलनात्मक पद्धतियों का ठीक असर पड़ा, और आज तक ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति में उन्हीं की परिभाषा अपनाई गई है। बाद में, योरप की प्राचीन भाषाओं की तुलना होने लगी, और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में फ्रेंच और अंग्रेजों के द्वारा संस्कृत का परिचय उन विद्वानों को हुआ। संस्कृत के परिचय ने भाषाविज्ञान को असाधारण वेग दिया, और इसमें भाषाइतिहास की नींव डाली जर्मनों ने। ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति के अग्रणी जर्मन विद्वान् और कुछ डेनिश विद्वान् ही रहे। इस काल में इण्डोयूरोपियन गण की अन्यान्य भाषाओं के इतिहास की खोज हुई, और इण्डोयूरोपियन के स्वरूप का भी काफी विचार हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध तक इस विषय में नेतृत्व जर्मन और फ्रेंच विद्वानों का रहा। उसके बाद, यानि बीसवीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशकों में, समाजविद्या के अन्य अंगों की तरह, भाषाविज्ञान में भी खूब परिवर्तन आ गया। ध्वनिविज्ञान का खूब विकास हो गया। और कार्यकारणभाव की खोज की अपेक्षा भाषा के प्रक्रिया और स्वरूप (Process, Structure) क्या हैं उनकी खोज आगे बढ़ी। यह स्वरूपविवेचक भाषाशास्त्र (Structural

linguistics) शुरू हुआ फ्रांस में ही, पर फूलाफाला इङ्गलैंड और अमरीका में, और डेन्मार्क में। भाषाविज्ञान की खोज में इन अर्वाचीन पद्धतियों ने पुरानी तुलनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टि को सँवारने में काफी भाग वँटाया है। और आज समय आया है कि इस अर्वाचीन दृष्टि के निकष से इण्डोयूरोपियन भाषाओं का इतिहास परखा जाय।

इन्डोयुरोपियन भाषाका खयाल ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति की ही देन है।

हीटाईट, टोखारियन, संस्कृत, पुरानी फारसी, ग्रीक, लैटिन, आईरिश, गोथिक, लिथुआनिअन, पुरानी स्लाव, आर्मेनिअन, इन सब भाषाओं की तुलना से मालूम होता है कि इन भाषाओंके व्याकरण, शब्दकोष इत्यादि में असाधारण साम्य है। ऐसा साम्य होना आकस्मिक नहीं। इस साम्य से तो एक ही बात निष्पन्न हो सकती है कि किसी एक कालमें एक जगह जो एक भाषा विद्यमान थी उसके ये सब अनुगामी स्वरूप हैं। इस मूल भाषा में जो बोली भेद विद्यमान थे—और हरेक भाषा में बोली भेद होना स्वाभाविक ही है—वे कालक्रम से स्वतंत्र भाषारूप में परिणत हुए, और उसके फलस्वरूप हम ये अलग-अलग भाषायें पाते हैं। तो ये भाषायें प्रारंभ में बोलियाँ थीं पर इतनी विभिन्न नहीं कि परस्पर अर्थबोध न हो सके। ये बोलियाँ बाद में स्वतंत्र भाषाओंके स्वरूप में विकसित हुई हैं किन्तु उनके उत्तरकालीन विकासको अलग छोड़कर उनकी तुलना की जाय तो हम मूल इन्डोयुरोपियन भाषा के स्वरूप का खयाल पा सकते हैं। और, इस अविद्यमान इन्डोयुरोपियनके स्वरूपका ख्याल पाने का यह एक ही रास्ता है। और इस इन्डोयुरोपियन का ख़्याल पाने के बाद ही हम उसकी इन बोलियों के अन्यान्य व्याकरण के स्वरूप एवं संबंध के प्रश्नों को हल कर सकते हैं। तुलनात्मक व्याकरण का यह एक महत्त्व का सिद्धांत है कि एक मूलभाषा की अपेक्षा से तज्जन्य भाषाओं के व्याकरण के स्वरूप को और ध्वनिस्वरूप को स्पष्ट करना। इसका उदाहरण हम भारत की भाषाओं से स्पष्ट कर सकते हैं। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का स्वरूप वैदिक संस्कृत के रूप में विद्यमान है, और मध्य भरतीय आर्यभाषा का स्वरूप प्राचीन पालि और प्राकृत रूप में विद्यमान है।

उनमें थे, जो बाद में भिन्न-भिन्न भाषाओं में परिणत हुए, उनका अध्ययन इन व्याख्यानों का प्रधान विषय है।

इस विषय की आलोचना के पहले आर्य भाषा का भारत बाहर का इतिहास और ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति का विकास और उनकी मर्यादाओं पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

आज से करीब-करीब दो सदी पहले मानव के विकासक्रम के अभ्यास के साथ-साथ भाषा के भी विकास का इतिहास है ऐसी प्रतीति होने लगी। अन्यान्य भाषाओं की तुलना शुरू हुई और उनके परस्पर सम्बन्ध की परीक्षा हुई। खास करके, प्रारम्भ में, भाषा को एक इतिहास की दृष्टि से परखने में डार्विन की विचार सरणी से ठीक-ठीक वेग मिला। डार्विन ने दो ग्रंथ लिखे 'डीसेन्ट ऑव मेन' और 'ओरिजिन ऑव स्पीशीझ'। इनके अतिरिक्त जो अन्य लेख लिखे उसमें उन्होंने भाषा की उत्पत्ति के बारे में भी ऊहापोह किया है। भाषा की उत्पत्ति का यह प्रश्न आज तो भाषाविज्ञानियों ने छोड़ ही दिया है, किन्तु डार्विन की विचार परम्परा के असर से भाषाविज्ञान के आरम्भ काल में ही जीव-विज्ञान की तुलनात्मक पद्धतियों का ठीक असर पड़ा, और आज तक ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति में उन्हीं की परिभाषा अपनाई गई है। बाद में, योरप की प्राचीन भाषाओं की तुलना होने लगी, और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में फ्रेंच और अंग्रेजों के द्वारा संस्कृत का परिचय उन विद्वानों को हुआ। संस्कृत के परिचय ने भाषाविज्ञान को असाधारण वेग दिया, और इसमें भाषाइतिहास की नींव डाली जर्मनों ने। ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति के अग्रणी जर्मन विद्वान् और कुछ डेनिश विद्वान् ही रहे। इस काल में इण्डोयूरोपियन गण की अन्यान्य भाषाओं के इतिहास की खोज हुई, और इण्डोयूरोपियन के स्वरूप का भी काफी विचार हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध तक इस विषय में नेतृत्व जर्मन और फ्रेंच विद्वानों का रहा। उसके बाद, यानि बीसवीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशकों में, समाजविद्या के अन्य अंगों की तरह, भाषाविज्ञान में भी खूब परिवर्तन आ गया। ध्वनिविज्ञान का खूब विकास हो गया। और कार्यकारणभाव की खोज की अपेक्षा भाषा के प्रक्रिया और स्वरूप (Process, Structure) क्या हैं उनकी खोज आगे बढ़ी। यह स्वरूपविवेचक भाषाशास्त्र (Structural

linguistics) शुरू हुआ फ्रांस में ही, पर फूलाफाला इङ्गलैंड और अमरीका में, और डेन्मार्क में। भाषाविज्ञान की खोज में इन अर्वाचीन पद्धतियों ने पुरानी तुलनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टि को सँवारने में काफी भाग बँटाया है। और आज समय आया है कि इस अर्वाचीन दृष्टि के निकष से इण्डोयूरोपियन भाषाओं का इतिहास परखा जाय।

इन्डोयुरोपियन भाषाका खयाल ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति की ही देन है।

हीटाईट, टोखारियन, संस्कृत, पुरानी फारसी, ग्रीक, लैटिन, आईरिश, गोथिक, लिथुआनिअन, पुरानी स्लाव, आर्मेनिअन, इन सव भाषाओं की तुलना से मालूम होता है कि इन भाषाओंके व्याकरण, शव्दकोष इत्यादि में असाधारण साम्य है। ऐसा साम्य होना आकस्मिक नहीं। इस साम्य से तो एक ही वात निष्पन्न हो सकती है कि किसी एक कालमें एक जगह जो एक भाषा विद्यमान थी उसके ये सव अनुगामी स्वरूप हैं। इस मूल भाषा में जो वोली भेद विद्यमान थे—और हरेक भाषा में वोली भेद होना स्वाभाविक ही है—वे कालक्रम से स्वतंत्र भाषारूप में परिणत हुए, और उसके फलस्वरूप हम ये अलग-अलग भाषायें पाते हैं। तो ये भाषायें प्रारंभ में वोलियाँ थीं पर इतनी विभिन्न नहीं कि परस्पर अर्थवोध न हो सके। ये वोलियाँ वाद में स्वतंत्र भाषाओंके स्वरूप में विकसित हुई हैं किन्तु उनके उत्तरकालीन विकासको अलग छोड़कर उनकी तुलना की जाय तो हम मूल इन्डोयुरोपियन भाषा के स्वरूप का खयाल पा सकते हैं। और, इस अविद्यमान इन्डोयुरोपियनके स्वरूपका ख्याल पाने का यह एक ही रास्ता है। और इस इन्डोयुरोपियन का ख्याल पाने के वाद ही हम उसकी इन वोलियों के अन्यान्य व्याकरण के स्वरूप एवं संवंध के प्रश्नों को हल कर सकते हैं। तुलनात्मक व्याकरण का यह एक महत्त्व का सिद्धांत है कि एक मूलभाषा की अपेक्षा से तज्जन्य भाषाओं के व्याकरण के स्वरूप को और ध्वनिस्वरूप को स्पष्ट करना। इसका उदाहरण हम भारत की भाषाओं से स्पष्ट कर सकते हैं। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का स्वरूप वैदिक संस्कृत के रूप में विद्यमान है, और मध्य भरतीय आर्यभाषा का स्वरूप प्राचीन पालि और प्राकृत रूप में विद्यमान है।

मान लीजिए कि, अर्वाचीन भारतीय आर्य भाषा के पुरोगामी स्वरूप बिलकुल अविद्यमान हैं, और अर्वाचीन भाषाओं से ही गुजराती, मराठी, बंगला आदि का परस्पर संबंध और व्याकरण समझाना है। किसी भी भारतीय आर्य भाषा का अभ्यास करते समय इतना तो आसानी से तय हो जायगा कि यह इन्डोयुरोपियन गण की भाषा है। उदाहरण-हिंदी: उसके सर्वनाम के रूप, संज्ञा और क्रिया की प्रक्रिया इत्यादि का इन्डोयुरोपियनसे संबंध लगाया जा सकता है, किन्तु हिंदी को ही केन्द्र में रख कर अन्य नव्यभारतीय भाषाएँ समझाने में बहुत सी व्याकरण की घटनाएँ विना समझाये ही रह जायँगी। जैसे कि हिंदी में नान्यतर नहीं है, मराठी, गुजराती, कोंकणी और भद्रवाही में नान्यतर है, गुजराती में संज्ञा है घोड़ो, हिंदी में है घोड़ा, हिंदी का भविष्यकाल है 'करूँगा', गुजराती का 'करीश', ऐसी अनेक घटनाएँ होंगी जो हिंदी से नहीं समझाई जा सकती। इसके लिये तो इन सब भाषाओं की कोई पूर्वावस्था की कल्पना करनी ही पड़ेगी जैसे कि नान्यतर, जो प्राचीन आर्यभाषा में था वह एक गण में गुजराती, मराठी, कोंकणी भद्रवाही में बच गया, और दूसरे गण में जैसे कि हिंदी, बंगला आदि में बचा नहीं। प्राचीन स्वरूप की कल्पना से ही अर्वाचीन भाषाओं का इतिहास समझाया जा सकेगा। भारतीय आर्य भाषा में सद्भाग्य से यह प्राचीन स्वरूप विद्यमान है, इसलिए कल्पना की आवश्यकता नहीं, किन्तु इन्डोयुरोपियन के विषय में इससे उलटा है। उसकी बोलियाँ तो विद्यमान हैं पर प्राचीन स्वरूप विद्यमान नहीं है, वहाँ प्राचीन स्वरूप कि पुनर्घटना (Hypothetical reconstruction) से ही उसकी बोलियों का व्याकरण समझाया जा सकता है। इस प्रयोजन से ही गत शताब्दियों में और इस शताब्दी के प्रारंभ-काल में तुलनात्मक और ऐतिहासिक व्याकरण की पद्धति आगे बढ़ी, और इयु का स्वरूप निश्चित किया गया। इस तरह से जो स्वरूप निश्चित किया गया है उसकी मर्यादाएँ अवश्य हैं, और वह कभी नहीं भूलनी चाहिये। इयु शब्द सिर्फ तज्जन्य बोलियों के व्याकरण और ध्वनिस्वरूप समझाने की एक फार्म्युला मात्र है, इयु का एक वाक्य भी उन शब्दों से बनाया नहीं जा सकता।

इयु में न तो कहानियाँ लिखी जा सकती हैं, न तो वाक्य लिखे जा सकते हैं। ऐसे प्रयत्न करना बेजिम्मेदार काम गिना जाता है, और

आजकल कोई ऐसा करता भी नहीं। जैसे-जैसे भाषाविज्ञान और ध्वनिविज्ञान का गंभीर अध्ययन होता जा रहा है, वैसे मालूम होता है किसी भी भाषा के उच्चारण का ख्याल सिर्फ ऐसे अक्षर या शब्द बनाने से नहीं आ सकता। पद के अन्तर्गत कुछ ध्वनियाँ ऐसी होती हैं जो समग्र उच्चारण को बदल देती हैं। जैसे कि दूर रहे र कार से 'न' का 'ण' हो जाता है। यह तो एक सुपरिचित प्रक्रिया है। ऐसी कई प्रक्रियाएँ भाषा में होती हैं और उनकी खोज अवश्य करनी होगी। आजपर्यन्त इयु के स्वरूप की कल्पना में अधिकतर एक-एक अक्षर को अलग अलग कर समझाने की प्रवृत्ति से ऐसी प्रक्रियाओं की उपेक्षा हुई है। पिछले कुछ सालों से इस दृष्टि से भाषाविज्ञान की खोज में थोड़ी बहुत प्रवृत्ति होने लगी है। इस विषय में लन्दन स्कूल के ध्वनि-वैज्ञानिकों के निबंध एवं ग्रन्थ की ओर आपका ध्यान खींचता हूँ।

(Prof Firth—"Sounds and Prosodies", Transactions of Philological Society, W. S. Allen—"Phonetics in Ancient India" 1953 Oxford Uni. Press.)

यह है इन्डोयुरोपियन भाषा के ज्ञान के बारे में हमारी मर्यादा। इयु की बोलियों के ज्ञान के लिए भी ईसा के पूर्वीय आधार भूत लिखित साहित्य सिर्फ चार या पांच बोलियों में ही मिलता है। हिटाईट, इन्डो-ईरानियन, ग्रीक, गोथिक और लेटिन। प्राचीन साहित्य लिपिबद्ध न होने के अनेक कारण हो सकते हैं। उस काल में लिपिज्ञान मर्यादित होगा। और दूसरा भी कारण हो सकता है। हम जानते हैं कि प्राचीनतम इयु प्रजा में भी किसी न किसी ढंग से यज्ञ द्वारा देवताओं का आह्वान करना और उन देवताओं की सहायता से दुश्मनों का नाश करना इन दो प्रवृत्तियों को करनेवाले वर्ग पुरोहित और वीर-क्षत्रिय विद्यमान थे। क्रमशः, इयु के अनुगामी हरेक समाज में पुरोहित का महत्त्व बढ़ता रहा, और जहां-जहां इयु प्रजा गई वहाँ पुरोहित का महत्त्व स्थापित हो गया। यज्ञ की, और उसके द्वारा धर्म की रक्षा करना और इससे सम्बन्धित सर्व अधिकार अपने पास रखना यह पुरोहित का उद्देश्य था। याज्ञिक संस्कृति की यह मोनोपोली पुरोहित के पास ही रह गई थी, और उसकी रक्षा के लिये यज्ञ के विधि-विधान अत्यंत जटिल और गूढ़ बनाये गये ताकि अन्य किसी व्यक्ति को इस रहस्य का पता आसानी से न चल सके। अनधिकारियों को पुरोहित

मान लीजिए कि, अर्वाचीन भारतीय आर्य भाषा के पुरोगामी स्वरूप विलकुल अविद्यमान हैं, और अर्वाचीन भाषाओं से ही गुजराती, मराठी, बंगला आदि का परस्पर संबंध और व्याकरण समझाना है। किसी भी भारतीय आर्य भाषा का अभ्यास करते समय इतना तो आसानी से तय हो जायगा कि यह इन्डोयुरोपियन गण की भाषा है। उदाहरण-हिंदीः उसके सर्वनाम के रूप, संज्ञा और क्रिया की प्रक्रिया इत्यादि का इन्डोयुरोपियनसे संबंध लगाया जा सकता है, किन्तु हिंदी को ही केन्द्र में रख कर अन्य नव्यभारतीय भाषाएँ समझाने में बहुत सी व्याकरण की घटनाएँ विना समझाये ही रह जायँगी। जैसे कि हिंदी में नान्यतर नहीं है, मराठी, गुजराती, कोंकणी और भद्रवाही में नान्यतर है, गुजराती में संज्ञा है घोड़ो, हिंदी में है घोड़ा, हिंदी का भविष्यकाल है 'करूँगा', गुजराती का 'करीश', ऐसी अनेक घटनाएँ होंगी जो हिंदी से नहीं समझाई जा सकती। इसके लिये तो इन सब भाषाओं की कोई पूर्वावस्था की कल्पना करनी ही पड़ेगी जैसे कि नान्यतर, जो प्राचीन आर्यभाषा में था वह एक गण में गुजराती, मराठी, कोंकणी भद्रवाही में बच गया, और दूसरे गण में जैसे कि हिंदी, बंगला आदि में बचा नहीं। प्राचीन स्वरूप की कल्पना से ही अर्वाचीन भाषाओं का इतिहास समझाया जा सकेगा। भारतीय आर्य भाषा में सद्भाग्य से यह प्राचीन स्वरूप विद्यमान है, इसलिए कल्पना की आवश्यकता नहीं, किन्तु इन्डोयुरोपियन के विषय में इससे उलटा है। उसकी बोलियाँ तो विद्यमान हैं पर प्राचीन स्वरूप विद्यमान नहीं है, वहाँ प्राचीन स्वरूप कि पुनर्घटना (Hypothetical reconstruction) से ही उसकी बोलियों का व्याकरण समझाया जा सकता है। इस प्रयोजन से ही गत शताब्दियों में और इस शताब्दी के प्रारंभ-काल में तुलनात्मक और ऐतिहासिक व्याकरण की पद्धति आगे बढ़ी, और इयु का स्वरूप निश्चित किया गया। इस तरह से जो स्वरूप निश्चित किया गया है उसकी मर्यादाएँ अवश्य हैं, और वह कभी नहीं भूलनी चाहिये। इयु शब्द सिर्फ तज्जन्य बोलियों के व्याकरण और ध्वनिस्वरूप समझाने की एक फार्म्युला मात्र है, इयु का एक वाक्य भी उन शब्दों से बनाया नहीं जा सकता।

इयु में न तो कहानियाँ लिखी जा सकती हैं, न तो वाक्य लिखे जा सकते हैं। ऐसे प्रयत्न करना बेजिम्मेदार काम गिना जाता है, और

आजकल कोई ऐसा करता भी नहीं। जैसे-जैसे भाषाविज्ञान और ध्वनिविज्ञान का गंभीर अध्ययन होता जा रहा है, वैसे मालूम होता है किसी भी भाषा के उच्चारण का ख्याल सिर्फ ऐसे अक्षर या शब्द बनाने से नहीं आ सकता। पद के अन्तर्गत कुछ ध्वनियाँ ऐसी होती हैं जो समग्र उच्चारण को बदल देती हैं। जैसे कि दूर रहे र कार से 'न' का 'ण' हो जाता है। यह तो एक सुपरिचित प्रक्रिया है। ऐसी कई प्रक्रियाएँ भाषा में होती हैं और उनकी खोज अवश्य करनी होगी। आजपर्यन्त इयु के स्वरूप की कल्पना में अधिकतर एक-एक अक्षर को अलग अलग कर समझाने की प्रवृत्ति से ऐसी प्रक्रियाओं की उपेक्षा हुई है। पिछले कुछ सालों से इस दृष्टि से भाषाविज्ञान की खोज में थोड़ी बहुत प्रवृत्ति होने लगी है। इस विषय में लन्दन स्कूल के ध्वनि-वैज्ञानिकों के निबंध एवं ग्रन्थ की ओर आपका ध्यान खींचता हूँ।

(Prof Firth—"Sounds and Prosodies", Transactions of Philological Society, W. S. Allen—"Phonetics in Ancient India" 1953 Oxford Uni. Press.)

यह है इन्डोयुरोपियन भाषा के ज्ञान के बारे में हमारी मर्यादा। इयु की बोलियों के ज्ञान के लिए भी ईसा के पूर्वीय आधार भूत लिखित साहित्य सिर्फ चार या पांच बोलियों में ही मिलता है। हिटाईट, इन्डो-ईरानियन, ग्रीक, गोथिक और लेटिन। प्राचीन साहित्य लिपिबद्ध न होने के अनेक कारण हो सकते हैं। उस काल में लिपिज्ञान मर्यादित होगा। और दूसरा भी कारण हो सकता है। हम जानते हैं कि प्राचीनतम इयु प्रजा में भी किसी न किसी ढंग से यज्ञ द्वारा देवताओं का आह्वान करना और उन देवताओं की सहायता से दुश्मनों का नाश करना इन दो प्रवृत्तियों को करनेवाले वर्ग पुरोहित और वीर-क्षत्रिय विद्यमान थे। क्रमशः, इयु के अनुगामी हरेक समाज में पुरोहित का महत्त्व बढ़ता रहा, और जहां-जहां इयु प्रजा गई वहाँ पुरोहित का महत्त्व स्थापित हो गया। यज्ञ की, और उसके द्वारा धर्म की रक्षा करना और इससे सम्बन्धित सर्व अधिकार अपने पास रखना यह पुरोहित का उद्देश्य था। याज्ञिक संस्कृति की यह मोनोपोली पुरोहित के पास ही रह गई थी, और उसकी रक्षा के लिये यज्ञ के विधि-विधान अत्यंत जटिल और गूढ़ बनाये गये ताकि अन्य किसी व्यक्ति को इस रहस्य का पता आसानी से न चल सके। अनधिकारियों को पुरोहित

की दृष्टि से तो उसमें प्रवेश ही न था, यह बात सुविदित है। अगर यह साहित्य लिपिवद्ध हो जाय तब तो सर्वगम्य हो जाने का भय था, और पुरोहित की मोनोपोली टूटने का भय था। इसी वास्ते इयु प्रजाओं का बहुत सा साहित्य सदियों तक लिपिवद्ध नहीं हुआ। अन्य प्रजाओं से इयु लोगों ने लिपि का ज्ञान पाने के वाद भी लिपि का प्रयोग न करने में पुरोहित की धर्माधिकार वृत्ति का अधिक हिस्सा है। शायद इसी लिये, पहले पहल लिपिप्रयोग का आरम्भ पुरोहितप्रधान आर्य परम्परा वाले धर्म से न होकर अधिक उदार दृष्टि के धर्म जैसे कि बौद्ध धर्म से प्रभावित प्रजाओं से होता है। भारत में भी लिपिप्रयोग सर्व प्रथम अशोक के शासन में ही हुआ यह इसका सूचक है।

जैसे इस भाषा के वारे में हमारा ज्ञान अत्यन्त मर्यादित है, वैसे इस प्रजा के निवास स्थान के वारे में इतना ही अज्ञान है। पिछले कुछ साल में मध्य एशिया में संशोधन होने से इयु प्रजा वहाँ से होकर भारत में आई इसका प्रमाण मिलता है, और इसकी कुछ तवारिखें भी तय हो सकती हैं। ई० पू० १४०० में मेसोपोटेमिया में मितन्नि प्रजा के अवशेषों में आर्य देवताओं के नाम जैसे in-da-ra. u-ru-vana मिलते हैं, ई० पू० १८०० में वेवीलोन के विजेता कासाइट की भाषा में आर्य देवताओं के नाम जैसे Suriyas मिलते हैं, ये सब आर्य-इयु-प्रजा के एशियाई परिभ्रमण के सूचक हैं। ई० पू० २००० के अरसे में इस प्रजा का एशियाई परिभ्रमण का आरम्भ हुआ और करीब पाँच सौ साल के वाद वह अपने इण्डोइरानियन स्थान पर आ गये।

इयु प्रजा के आदिम निवास स्थान के विषय में भी विवाद है। वस्तुतः, हमारे पास सामग्री इतनी कम है, कि उसका निर्णय हो नहीं सकता। किन्तु ख्याल तो अवश्य आ सकता है कि ये प्रजायें लिथुयानिया से लेकर दक्षिण रशिया के वीच के प्रदेश में कहीं स्थिर रही होंगी। यह ख्याल हम इयु गण के सर्वसाधारण शब्दों को लेकर Linguistic paleontology के आधार पर कर सकते हैं। कोई एक शब्द के आधार पर निर्णय करने के वजाय एक तरह का समग्र शब्दसमूह का अस्तित्व और दूसरी तरह का समग्र शब्दसमूह का अभाव हमको कुछ दिशा

सूचन अवश्य कर सकता है। इस विषय में प्रो० वेण्डर अपने ग्रंथ 'होम आव धी इण्डोयुरोपिअन्स' प्रीन्सटन, १६२२ में लिखते हैं :

इण्डोयुरोपीअन गण की प्राचीन भाषाओं में निम्नलिखित पशु, पक्षियों और वृक्षों के लिये व्यवहृत जो शब्द हैं वे समान नहीं:—हाथी, गेंडा, ऊँट, सिंह, वाघ, वन्दर, मगर, तोता, चावल, वरगद, वाँस, ताड़।

किन्तु निम्नलिखित चीजों के लिये तो अधिकांश समान शब्द ही हैं:—वर्फ, कड़ाके की सर्दी, ओस, वीच, पाइन, वर्च, वीलो, ओटर, वीवर, पोलकेट, मार्टन, वीवर, रीछ, भेड़िया, हिरन, खरगोश, चूहा, घोड़ा, वैल, भेड़, वकरी, सूअर, कुत्ता, गरुड़, वाज, उल्लू, जे (Jay), हंस, वत्तक, चिड़िया, साँप, कछुआ, चींटी, मधुमक्खी इ. इ.।

इसके आधार पर हम उसी स्थान की कल्पना कर सकते हैं जहाँ की आवोहवा इस प्रकार के प्राणी जीवन के अनुकूल थी। उससे आगे जाकर विलकुल नियत स्थान की खोज करना हकीकत से वाहर जाकर कल्पना विहार करना होगा।

अव रही वात 'इन्डोयुरोपियन' नाम की। यह नाम पहले तो ऐसे दिया गया था—विश्व में इन्डिया से लेकर यूरोप तक जिस परिवार की भाषाएँ वोली जाती हैं उस भाषापरिवार का नाम इन्डोयुरोपियन। आज तो इस परिवार की भाषाएँ इस सीमा से वाहर भी वोली जाती हैं जैसे अंग्रेजी, जो अमेरिका और आस्ट्रेलिया में वोली जाती है। जर्मन विद्वान इस परिवार को इन्डोजर्मेनिक कहते थे। कई भाषाविज्ञानियों ने एक शब्द वनाया * Wiros जो इयु शब्द ही है, उनका संस्कृत है वीरः। इस भाषा के लिए 'आर्यन' नाम इस्तेमाल कर सकते हैं, यदि इस नाम की मर्यादा समझ ली जाय तो। ये नाम सूचक हैं मात्र भाषा के, इससे कोई विशिष्ट जाति से संवंध नहीं। कई जगह यह भाषा वोलनेवाले अनेक जाति के लोग होंगे, प्राचीनतम काल में भी यह इतनी ही सच हकीकत हो सकती है। प्रस्तुत व्याख्यानों में मैंने आर्य शब्द इस्तेमाल किया है, उसका अर्थ इतना ही है, यह सिर्फ एक भाषा का अभिधान ही है। कोई नया नाम खोजने के वजाय यह पुराना शब्द इस्तेमाल किया है, सिर्फ उसके अर्थ की मर्यादा हमेशा खयाल में रखी जाय।

की दृष्टि से तो उसमें प्रवेश ही न था, यह बात सुविदित है। अगर यह साहित्य लिपिबद्ध हो जाय तब तो सर्वगम्य हो जाने का भय था, और पुरोहित की मोनोपोली टूटने का भय था। इसी वास्ते इयु प्रजाओं का बहुत सा साहित्य सदियों तक लिपिबद्ध नहीं हुआ। अन्य प्रजाओं से इयु लोगों ने लिपि का ज्ञान पाने के बाद भी लिपि का प्रयोग न करने में पुरोहित की धर्माधिकार वृत्ति का अधिक हिस्सा है। शायद इसी लिये, पहले पहल लिपिप्रयोग का आरम्भ पुरोहितप्रधान आर्य परम्परा वाले धर्म से न होकर अधिक उदार दृष्टि के धर्म जैसे कि बौद्ध धर्म से प्रभावित प्रजाओं से होता है। भारत में भी लिपिप्रयोग सर्व प्रथम अशोक के शासन में ही हुआ यह इसका सूचक है।

जैसे इस भाषा के बारे में हमारा ज्ञान अत्यन्त मर्यादित है, वैसे इस प्रजा के निवास स्थान के बारे में इतना ही अज्ञान है। पिछले कुछ साल में मध्य एशिया में संशोधन होने से इयु प्रजा वहाँ से होकर भारत में आई इसका प्रमाण मिलता है, और इसकी कुछ तवारिखें भी तय हो सकती हैं। ई० पू० १४०० में मेसोपोटेमिया में मितन्नि प्रजा के अवशेषों में आर्य देवताओं के नाम जैसे in-da-ra, u-ru-vana मिलते हैं, ई० पू० १८०० में बेबीलोन के विजेता कासाइट की भाषा में आर्य देवताओं के नाम जैसे Suriyas मिलते हैं, ये सब आर्य -इयु-प्रजा के एशियाई परिभ्रमण के सूचक हैं। ई० पू० २००० के अरसे में इस प्रजा का एशियाई परिभ्रमण का आरम्भ हुआ और करीब पाँच सौ साल के बाद वह अपने इण्डोइरानियन स्थान पर आ गये।

इयु प्रजा के आदिम निवास स्थान के विषय में भी विवाद है। वस्तुतः, हमारे पास सामग्री इतनी कम है, कि उसका निर्णय हो नहीं सकता। किन्तु ख्याल तो अवश्य आ सकता है कि ये प्रजायें लिथुयानिया से लेकर दक्षिण रशिया के बीच के प्रदेश में कहीं स्थिर रही होंगी। यह ख्याल हम इयु गण के सर्वसाधारण शब्दों को लेकर Linguistic paleontology के आधार पर कर सकते हैं। कोई एक शब्द के आधार पर निर्णय करने के बजाय एक तरह का समग्र शब्दसमूह का अस्तित्व और दूसरी तरह का समग्र शब्दसमूह का अभाव हमको कुछ दिशा

सूचन अवश्य कर सकता है। इस विषय में प्रो० वेण्डर अपने ग्रंथ 'होम आव थी इण्डोयुरोपिअन्स' प्रीन्सटन, १६२२ में लिखते हैं :

इण्डोयुरोपीअन गण की प्राचीन भाषाओं में निम्नलिखित पशु, पक्षियों और वृक्षों के लिये व्यवहृत जो शब्द हैं वे समान नहीं:—हाथी, गेंडा, ऊँट, सिंह, वाघ, वन्दर, मगर, तोता, चावल, वरगद, वाँस, ताड़।

किन्तु निम्नलिखित चीजों के लिये तो अधिकांश समान शब्द ही हैं:—बर्फ, कड़ाके की सर्दी, ओस, वीच, पाइन, बर्च, वीलो, ओटर, वीवर, पोलकेट, मार्टन, वीवर, रीछ, भेड़िया, हिरन, खरगोश, चूहा, घोड़ा, वैल, भेड़, वकरी, सूअर, कुत्ता, गरुड़, वाज, उल्लू, जे (Jay), हंस, वत्तक, चिड़िया, साँप, कछुआ, चींटी, मधुमक्खी इ. इ.।

इसके आधार पर हम उसी स्थान की कल्पना कर सकते हैं जहाँ की आवोहवा इस प्रकार के प्राणी जीवन के अनुकूल थी। उससे आगे जाकर विलकुल नियत स्थान की खोज करना हकीकत से वाहर जाकर कल्पना विहार करना होगा।

अब रही वात 'इन्डोयुरोपियन' नाम की। यह नाम पहले तो ऐसे दिया गया था—विश्व में इन्डिया से लेकर यूरोप तक जिस परिवार की भाषाएँ वोली जाती हैं उस भाषापरिवार का नाम इन्डोयुरोपियन। आज तो इस परिवार की भाषाएँ इस सीमा से वाहर भी वोली जाती हैं जैसे अंग्रेजी, जो अमेरिका और आस्ट्रेलिया में वोली जाती है। जर्मन विद्वान इस परिवार को इन्डोजर्मेनिक कहते थे। कई भाषाविज्ञानियों ने एक शब्द वनाया * Wiros जो इयु शब्द ही है, उनका संस्कृत है वीरः। इस भाषा के लिए 'आर्यन' नाम इस्तेमाल कर सकते हैं, यदि इस नाम की मर्यादा समझ ली जाय तो। ये नाम सूचक हैं मात्र भाषा के, इससे कोई विशिष्ट जाति से संवंध नहीं। कई जगह यह भाषा वोलनेवाले अनेक जाति के लोग होंगे, प्राचीनतम काल में भी यह इतनी ही सच हकीकत हो सकती है। प्रस्तुत व्याख्यानों में मैंने आर्य शब्द इस्तेमाल किया है, उसका अर्थ इतना ही है, यह सिर्फ एक भाषा का अभिधान ही है। कोई नया नाम खोजने के वजाय यह पुराना शब्द इस्तेमाल किया है, सिर्फ उसके अर्थ की मर्यादा हमेशा खयाल में रखी जाय।

इस इन्डोयुरोपियन गण की पूर्वी बोली, और हमारे लिए विशेष महत्त्व की है इन्डोईरानियन। भारत की प्राचीन भाषा और ईरान की प्राचीन भाषा में असाधारण साम्य है। और इससे ही ऐसा माना गया है कि ये दोनों एक प्राचीन भाषा की दो शाखायें हैं। वेद की प्राचीन भाषा से अवेस्ता की गाथाओं का जितना साम्य है इतना साम्य इन्डोयुरोपियन गण की कोई भी दो भाषाओं में नहीं। ईरान शब्द भी प्राचीन शब्द * आर्यो-नाम् का ही रूप है। आर्य का ष० ब० व० * आर्यानाम्, प्राचीन फारसी में 'एरान' और अर्वाचीन फारसी में 'ईरान'। इन्डोयुरोपियन गण की किसी अन्य शाखा ने आज तक अपने प्राचीन नाम का इस तरह संरक्षण नहीं किया। भारत के आर्य और ईरान के आर्य पामीर के नजदीक किसी स्थल में कुछ काल तक एकत्र रहें, और उसके बाद एक परिवार ईरान की ओर, और दूसरा भारत की ओर स्थिर होने लगा। जब ये लोग एकत्र रहते थे उस काल की उनकी भाषा को हम इण्डोईरानियन कहते हैं। यह इयु की एक बोली ही है, इसलिए इयु से साम्य होते हुए भी उनकी अपनी अनोखी विशेषतायें भी हैं। इन्डोईरानयिन के, इस दृष्टिसे कुछ व्यावर्तक लक्षण निम्न प्रकार के हैं।

इयु के ह्रस्व और दीर्घ 'ए' और 'ओ' सब इन्डो-ईरानियन में ह्रस्व और दीर्घ 'अ' हो जाते हैं और इस प्रक्रिया से इयु के ये तीन स्वर—ह्रस्व और दीर्घ अ, ए, ओ—का भेद इन्डोईरानियन में लुप्त हो गया है। यह ध्वनिविकास होते ही इन्डोईरानियन के रूपतंत्र में भी काफी परिवर्तन आ गया।

इयु घोष महाप्राण+अघोष अल्पप्राण>इ. ईरा. घोष अल्प-प्राण+घोष महाप्राण—उदा.—bh+t>—bdh—(labh—t> lab-dh-), आज्ञार्थ तृ. पु. ए. व. उकारान्त होता है उदा-सं. a bharatu, झेन्द-baratu, पुरानी फारसी baratuv.

इन्डोईरानियन गण की दो प्राचीनतम शाखाएँ हैं वेद की भाषा, और अवेस्ता। इनका परस्पर साम्य कितना अधिक है यह निम्न-लिखित सर्वनाम के रूपाख्यान से स्पष्ट होगा।

	ए. व. सं.	झेन्द	ब. व. सं.	झेन्द
प्रथमा	áham	azəm	váyam	vaém
द्वितीया (accented)	mā́m	mam	asmā́n	ahma
द्वितीया (unaccented)	mā	mā		
ष० चतुर्थी (unaccented)	me	me		
ष० (accented)	máhyam	maihyā	asmākam	ahmākəm
पञ्चमी	mat	mat		

दीर्घकाल तक एकत्र रहने के बाद जब ये प्रजाएं भिन्न हुईं तब उनकी भाषा और साहित्य की विकास धारा अलग-अलग हो गई। ईरान में इनके साहित्य के दो विभाग हो सकते हैं।

१—प्राचीन फारसी: यह लिखित स्वरूप में प्राचीनतम शिलालेखों में सम्राट दारिउस के काल में ई० पू० ५२२-४८६ में मिलती है। हिटाइट के कुछ नमूनों को छोड़कर इन्डोयुरोपियन का यह प्राचीनतम लिखित साहित्य है।

२—अवेस्ता : झरथुस्त्र के उपदेश का साहित्य इस भाषा में संगृहीत किया गया है। किन्तु, इस साहित्य की संकलना देर से होती है सासानी काल में ई० छठी शताब्दी में। इसका प्राचीनतम विभाग गाथा। यह, ऋग्वेद से अधिक रहस्यवादी (mystical, philosophical) साहित्य है, किन्तु भाषादृष्टि से दोनों में साम्य अधिक है।

भारत में आये हुए आर्यों का प्राचीनतम साहित्य वेद है। भिन्न होने के बाद भी भारतीय आर्य और ईरानियन आर्य के भाषाइतिहास में ठीक-ठीक साम्य रहा है। जैसी विकास रेखा प्राचीन फारसी और मध्यकालीन फारसी में है वैसी ही वैदिक संस्कृत और पालि प्राकृतों में है।

ऋग्वेद एक व्यक्ति या एक काल का साहित्य नहीं। जब आर्य प्रजाएं भारत में आई तब उनके पास जो परंपरागत मान्यताएं थीं, देव-सृष्टि की जो कल्पनाएँ थीं, और यज्ञयाग की जो पद्धतियाँ थीं वह सब उनकी भाषा की तरह आर्य ईरानी काल की देन थी।

आर्य ईरानी निवासस्थान से भारत के उत्तरपश्चिम प्रदेशों में आर्यों का आगमन क्रमशः आगे बढ़ती प्रजा का सूचक है। वेद में ऐसे स्पष्ट उल्लेख नहीं हैं, जहाँ पता चले कि आर्यप्रजा अपना पुराना निवासस्थान छोड़कर आगे बढ़ रही है। इससे सूचित होता है कि भारत में आर्यों का भगीरथ कार्य था यहाँ उनके पहले जो प्रजाएँ स्थिर हो चुकी थीं उनको हटाकर अपना आधिपत्य जमाना। इस काल में होती है वेद की रचना। यह आर्य प्रजा— इन्डोयुरोपियन बोलती प्रजा— अपने अनेक परिभ्रमणों में जहाँ गई है वहाँ विजयी होती है। उनके विजय की कुंजी दो चीज में रही है। एक है उनकी समाज-व्यवस्था, दूसरी उनकी प्रगतिशीलता। उनकी समाज व्यवस्था के दो महत्त्व के अंग थे देवताओं को प्रार्थना करने वाले, उनको यज्ञ से संतुष्ट करने वाले पूजारी और दुश्मनों से लड़ने वाले वीर योद्धा, छोटे-छोटे नृपति, वीर नेतागण। उनकी प्रगतिशीलता है, हमेशा नये वातावरण के अनुकूल होना, नये-नये तत्त्वों को अपनी संस्कृति में अपनाना। इस शक्ति का एक उदाहरण मोहेंजोदड़ों के अवशेषों को देखने पर मिलता है। इस नगर का आयुष्य करीब एक हजार साल का था, किन्तु उस काल में उनका व्यवहार, रहन सहन की पद्धति, घर बाँधना, व्यवसाय करना, वेशभूषा आदि में इतने दीर्घ काल तक कुछ फर्क नहीं होने पाया था। उस प्रजा में गतिशीलता का अभाव था। और यह आर्य प्रजा? ये हमेशा बदलते रहे हैं, यह आर्य प्रजा, जो घूमती-फिरती पशुपालक प्रजा थी, जिसको घर बाँधने का, नगर बसाने का कुछ भी ज्ञान न था, जो शिल्प स्थापत्य से अनभिज्ञ थी वह भारत में आने के पश्चात् कुछ ही काल में, अन्य प्रजाओं से सीखकर, बड़े बड़े गणराज्य स्थापित करती है, नगर बसाती है, अनेक आर्येतर प्रजाओं से मिलकर अपनी संस्कृति को समृद्ध बनाती है।

आर्यों की समाजव्यवस्था का प्रभाव उनके साहित्य के निर्माण पर पड़ा। देवताओं को तुष्ट करने के लिए यज्ञप्रथा कम से कम आर्य

ईरानी काल जितनी प्राचीन तो है ही। यह यज्ञप्रथा आगे चलकर आर्य संस्कृति का केन्द्र बनती है। सिंधु नदी और उसकी उपजीवक अन्य नदियों के प्रदेश में फैलते आर्यसमूहों में पुनः पुनः दुश्मनों के नाश के लिए, वीर पुत्रों की प्राप्ति के लिए, सामर्थ्य और समृद्धि के लिए, यज्ञ के पूजारीओं ने जिन मंत्रों की रचना की वह है हमारा वेद साहित्य। यह साहित्य प्रधानतः यज्ञ को लक्ष में रखकर ही लिखा गया है। यज्ञों के लिए उन विप्रों ने इन पद्यों की रचना की, इस लिये यज्ञ करनेवालों के चुने हुए पूजारी गण में उपयुक्त शब्दप्रयोग, रूढियाँ इ० को ही वेद में अधिक स्थान मिला। वेद को अच्छी तरह से देखने से मालूम होता है कि वेद आम प्रजा की रचना (popular poetry) नहीं है, पुरोहित का साहित्य (priestly poetry) है। 'ऋग्वेद रीपीटीशन्स' में ब्लूमफिल्ड ने यह स्पष्ट बताया है कि ऋग्वेद में करीब १।५ पाद का पुनरावर्तन ही हुआ है। इससे यह फलित होता है कि अमुक तरह के वाक्य और शब्द प्रयोग निश्चित स्वरूप से यज्ञयाग के निष्णात विप्रगणों में प्रचलित थे, और जब कोई विप्र पद्य की रचना करता था तब वह उन्हीं प्रचलित वाक्यों का व्यवहार करता था। ऋग्वेद का कवि बारबार कहता है: जैसे कोई सूथार रथ बनाता है वैसे मैं अपना काव्य बनाता हूँ, रथ के भिन्न-भिन्न अंगों को इकट्ठा करके। वैदिक साहित्य प्राचीन आर्यों के सामाजिक जीवन के एक अंग का आलेखन करता है। वह, विप्र का प्रतिनिधि साहित्य है। बड़े-बड़े सोम यज्ञ, श्रौतयज्ञ इ० में व्यवहृत पद्यों की भाषा भी उस बड़प्पन के अनुरूप होनी चाहिये, किसी तरह की ग्रामीण बोली इसमें घुसनी न चाहिये। यह दृष्टि उस विप्र गण के लिये स्वाभाविक ही थी। इस विधान को आधार मिलता है अथर्ववेद से। अथर्ववेद की सृष्टि ऋग्वेद से निराली है, रोज ब रोज के रीत रिवाज और जीवन व्यवहार की बातें और मान्यतायें उसमें ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित होती है। समग्र दृष्टि से अथर्ववेद के कुछ अंश ऋग्वेद के समकालीन तो हैं ही। फिर भी, अथर्ववेद के शब्द और शब्दप्रयोग ऋग्वेद से काफी निराले हैं। जिन शब्दों को ऋग्वेद में स्थान नहीं, वे शब्द अथर्ववेद में व्यवहृत होते हैं। किन्तु थोड़े काल के बाद जब अथर्ववेद का पुजारी, अपनी लोकोपयोगिता और लोकप्रियता से क्षत्रिय राजाओं का महत्त्वपूर्ण सहायक बनने लगा तब विप्रों ने

अथर्ववेद पर भी अपना अधिकार जमा लिया, और अथर्व को अपने में समा लिया, तीनों वेदों के साथ उसको भी मान्य वेद गिना गया। विप्रों के कब्जा जमाने के बाद अथर्ववेद को शिष्ट स्वरूप देने का, उसमें भी विप्र की महत्ता बढ़ाने का, काफी प्रयत्न हुआ, और उसके फलस्वरूप अथर्ववेद की जो संहिता हमारे पास आती है वह विप्र की आवृत्ति है।

ऋग्वेद के संग्रहण में ऋग्वेद की भाषा की एक नई आवृत्ति होती है। जब ऋचाओं का संहनन हुआ तब संहिताकार के समय की भाषा-परिस्थिति किसी न किसी रूप से ऋग्वेद में प्रतिबिम्बित हुई। इस लिये ऋग्वेद में कभी-कभी अन्यान्य बोलियों के रूप एक साथ मालूम होते हैं। जैसे 'र' और 'ल' की व्यवस्था। इण्डोयुरोपियन 'ल' का ईरानियन में तो 'र' ही होता है, और इससे इयु 'र' भी इरानियन में 'र' रह जाता है। ऋग्वेद के प्राचीनतम स्तर में यह व्यवस्था चालू रही है, क्योंकि ऋग्वेद की रचना अधिकांश भारत के उत्तरपश्चिम भाग में की गई, और उस प्रदेश की बोलियों का ईरानियन से साम्य होना स्वाभाविक है। भारत की पूर्व की बोलियों में तो 'र' और 'ल' के स्थान पर 'ल' का ही व्यवहार होता था, और यह 'ल' वाले शब्द भी ठीक-ठीक ऋग्वेद में आ गये हैं। ऋग्वेद का 'चर्' <IE*K^{w}el-जो इरानियन में भी (c̆araiti) रूप में मिलता है वह अथर्ववेद तक चल् रूपमें भी मिलता जाता है। और IE* leubh-> लुभ् न इरानिअन में मिलता है, न ऋग्वेद के प्राचीनस्तर में, वह दसवें मंडल में— जो कुछ अर्वाचीन है— लोभयन्ति रूप में मिलता है, इस 'ल' कार वाले धातु का प्राचीनस्तर में अवकाश न था।

ऋग्वेद में तृतीया ब. व. के जो अलग-अलग प्रत्यय एभिः, ऐः मिलते हैं उनसे भी यह सूचन होता है कि अलग-अलग बोलियों में व्यवहृत किये गये ये व्याकरण के प्रयोग ऋग्वेद के संहिताकार ने इकट्ठे कर लिये हैं। वेद में अधिकतर प्रयत्न तो विप्रसंमत शिष्ट भाषा की सुरक्षा करने का किया गया है, सिर्फ अन्यान्य बोलियों के ऐसे कुछ स्वरूप उसमें आ गये हैं। आर्यों के भारत में आगमन के बाद, और उनके विकास के बाद आर्यभाषा तीव्रगति से विकासशील थी, किंतु उस विकास के फलस्वरूप अन्यान्य बोलियों में परिणत हुए आर्यभाषा के स्वरूप का पता वेद से नहीं चलता।

कालक्रम से, वेद की भाषा समझनी भी मुश्किल बन गई। इससे विप्रों को तो वेद का आधिपत्य रखने में सुविधा हो गई। ब्राह्मण काल का साहित्य यज्ञ संस्कृति की भाषा में लिखा गया है, उसकी परम्परा वेद परम्परा को अनुगामी है। इससे शिष्टता का एक आदर्श खड़ा हुआ। उत्तर और मध्य देश के याज्ञिकों की भाषा—आर्यों के सांस्कृतिक केन्द्र की भाषा—शिष्ट गिनी गई। इसी भाषा का अद्वितीय व्याकरण पाणिनि ने लिखा।

इस तरह से, संस्कृत के विकास में विप्र और शिष्ट का प्रभाव है। वेद काल से लेकर भारत की अनेक बोलियाँ जो विप्रत्व और शिष्टता के बर्तुल से बाहर थीं उसका स्वीकार कभी नहीं हुआ। यह बोलियाँ आप ही आप विकसती चलीं, शिष्टता के सहारे के बिना। जैन और बौद्ध धर्म ने इसको ई. पू.-पाँचवीं शताब्दी से अपनाया, और उसके बाद भारतीय भाषाओं की विकासधारा का नया प्रवाह शुरू होता है।

ये धर्म पूर्व में पैदा हुए। वैदिक और ब्राह्मण परम्परा से अलग उनकी आचार और विचार व्यवस्था, और उनको जन समाज को अपना दृष्टिकोण समझाने में विशेष प्रयत्न करना पड़ा। इस प्रयत्न में इनको पूर्व की बोली में व्यवहार करना अनुकूल ही था, ताकि जिस प्रजा को उपदेश करना था वह प्रजा उनकी भाषा समझ सके। इन दो धर्मों का आश्रय मिलने से पूर्व की बोलियों को नया प्राण मिला, और उनका प्रवाह, जो अब तक शिष्टता के बल से अवरुद्ध था, अब एकदम गतिमान हो गया। पूर्व की बोलियों में लोकप्रिय कथायें और उपदेश का साहित्य बढ़ता चला, और उनको प्राकृत जैसा जरा हलका नाम मिलने पर भी, यह भाषा संस्कृत को पूर्व से हटाने लगी।

प्राकृत भाषा के विकास का गहरा प्रभाव संस्कृत पर पड़ा। प्राकृत के विकास से संस्कृत लुप्त नहीं होती। स्वाभाविक तौर से यह ही होता कि किसी नये भाषा स्वरूप के विकास के बाद पुराना स्वरूप धीरे-धीरे नष्ट हो जाता। संस्कृत के मामले में दूसरी बात हुई। संस्कृत भी और गतिमान हो गई। बुद्ध और महावीर से पहले आर्यों की संस्कृत भाषा अधिकतर यज्ञ और उनके अनुष्ठान और तत्त्वचिन्तन जैसे उच्च कक्षा के साहित्य को स्पर्श करती थी। शिष्टता के शिखर पर ही उसका व्यवहार होता था, वह दैनिक विषयों को नहीं छूती थी। जब प्राकृतों ने धर्म के अतिरिक्त प्रजाजीवन के व्यवहार की बातों को भी साहित्य

स्वरूप देने का आरम्भ किया तब वह एक स्वरूप से, संस्कृत की प्रतिस्पर्धी होने लगी। और मानों संस्कृत को अपने अस्तित्व के लिये प्राकृतों की तरह लोकप्रिय होने का आह्वान मिला।

संस्कृत ने इस आह्वान का योग्य उत्तर भी दिया। यज्ञयाग और उपनिषदों की चर्चा से आगे बढ़ कर, समाज के अनेक वर्गों में अपना स्थान जमाने के लिये संस्कृत का साहित्य बहुलक्षी हुआ। अमुक विषय तक ही पर्याप्त न होकर अनेक लोकप्रिय (popular) विषयों में भी संस्कृत का व्यवहार बढ़ता चला। इस काल में आर्य प्रजा ने उसकी संस्कृति समग्र भारत पर जमा ली थी, और संस्कृत का व्यवहार अनेक आर्य और आर्येतर लोक भी करने लगे थे। संस्कृत का क्षेत्र अब एकदम विशाल हो गया। अनेक तरह के साहित्य निर्माण का प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से संस्कृत के भाषास्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुआ। जब कोई एक भाषा अन्यभाषी प्रजाओं से व्यवहृत होने लगती है तब उसके व्याकरण के स्वरूप की संकुलता कम होती जाती है, और सादृश्य का व्यापार बढ़ जाता है। अपवादात्मक विधान कम हो जाते हैं, शब्दों के अर्थ भी बदलने लगते हैं। संस्कृत भी इस तरह बदलती गई। किन्तु अब उसका व्यवहारक्षेत्र बढ़ गया और उसके बढ़ने के साथ ही उसका शब्दकोष समृद्ध हो गया। प्राकृत भाषा के विकासक्षेत्र पर अपने बढ़ते हुए शब्दकोष के द्वारा संस्कृत ने अपना आक्रमण जारी रखा। इस काल के कई साहित्य स्वरूप ऐसे हैं जो बाहर से संस्कृत हैं, जिस पर संस्कृत का आवरण है, नीचे प्रवाह है प्राकृत का। यह साहित्य समाज के दोनों वर्ग में—नागरिक और ग्राम्य प्रजा में—सफल होता रहा। इसके आबाद नमूने हैं महाभारत जैसी विशाल रचनायें। वस्तुतः यह महान ग्रंथ के नीचे प्रवाह है प्राकृत भाषा का, उनका बाहरी स्वरूप है संस्कृत। भाषाविज्ञानी के लिए यह भाषास्वरूप एक महत्व के संशोधन का विषय है।

इस काल के बाद की उत्कर्षकालीन (classical) संस्कृत, सिर्फ शिष्टों की साहित्य रचना के फलस्वरूप है। सन्धि के कृत्रिम ध्वनि-परिवर्तन, नाम वाक्य की कृत्रिम रचनायें, विद्वद्भोग्य समास से भरा हुआ उत्कर्षकालीन संस्कृत साहित्य, भाषा के लिए कम वैज्ञानिक महत्त्व के हैं। वह तो सिर्फ विद्वानों की विद्वानों के लिए की गई रचनायें हैं। भारतीय भाषाविकास की प्रवाहधारा से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं।

२

प्राकृत के प्राचीन बोली विभाग

वेद और प्राचीन संस्कृत साहित्य की परंपरा के निदर्शन के बाद प्राकृतसाहित्य की परंपरा की आलोचना, और उसकी भाषाशास्त्र की दृष्टि से कुछ जांच करना आवश्यक है। प्रधानतया प्राकृतसाहित्य के दो मुख्य अंग हैं। बौद्ध साहित्य और जैन साहित्य। दोनों का उगम एक ही काल में और एक ही स्थल में होते हुए भी, उनकी विकासधारा अलग है।

पालि साहित्य विपुल है। परंपरा के अनुसार भगवान बुद्ध के उपदेशों की तीन आवृत्तियां उनके निर्वाण के बाद २३६ साल तक हुई। ये तीन आवृत्तियां राजगृह, वैशाली और पाटलीपुत्र की परिषदों में संपन्न हुई। इन आवृत्तियों की ऐतिहासिकता विवाद का विषय होते हुए भी, इनसे एक बात स्पष्ट है कि बुद्ध के उपदेशों को उनके अनुयाइयों ने दो तीन सदियों में संकलित किये। इस संकलन में मूल के अतिरिक्त भाव और भाषा आ जाने की संभावना तो है, किन्तु उसके साथ यह भी तो मानना पड़ता है कि उपदेश की स्मृति विद्यमान थी, और मूल से ठीक-ठीक निकट ऐसा विश्वसनीय साहित्य संगृहीत हुआ।

इससे यह मानना पड़ेगा कि हमारे पास प्राचीनतम प्राकृत साहित्य के भाषा स्वरूप के अभ्यास के लिए ई० पू० की पांचवी सदी से लेकर महत्त्व की सामग्री विद्यमान है। अब, जब हम इस साहित्य को अन्वेषण की दृष्टि से देखते हैं तब उसकी भाषा के बारे में अनेक तरह की शंकायें पैदा होती हैं। परंपरा के अनुसार, बुद्ध के उपदेश भिन्न-भिन्न विहारों में, मठों में, भिक्षुओं की स्मृति में संचित थे। ये भिक्षुगण भी भिन्न-भिन्न प्रान्त के निवासी थे। परंपरा के अनुसार दूसरी वाचना के समय दूर-दूर के प्रदेश के भिक्षु उपस्थित थे। अवन्ति, कोशाम्बी, कन्नौज, सांकाश्य, मथुरा, और वहाँ से आनेवाले भिक्षुओं की निजी भाषा भी भिन्न भिन्न होगी। उत्तर और पश्चिम की बोलियाँ पूर्व से ठीक-ठीक भिन्न थी। विनय का जो संकलन किया गया, उसमें इन सब भिन्न-भाषी भिक्षुओं का अपना हिस्सा

भी होगा, और उसके फलस्वरूप भाषापरिवर्तन भी हुआ होगा। मूल के उपदेश थे कोशल के राजकुमार, और मगध के भिक्षु की भाषा में, शिष्ट मागधी में। जब कोई नागरिक दूसरे प्रान्त की बोली बोलता है, तब वह उस प्रान्त की शिष्ट बोली ही बोलेगा, वहां की ग्रामीण बोली से वह परिचित न होगा। दूसरी वाचना के संहनन में अन्यान्य भिक्षुगण जो कि पश्चिम से आये थे, उनका प्रभाव मूल उपदेश की इस शिष्ट मागधी पर पड़ा। उसके बाद यह साहित्य लिपिबद्ध होता है। अशोक के समय में ही यह साहित्य कुछ अंश में लिपिबद्ध हो चुका था यह बात हमको भाब्रु के लेख से मिलती है। किन्तु, अधिकांश बौद्ध साहित्य लिखा गया सिंहलद्वीप में। बौद्ध साहित्य का यह धर्मदूत, उज्जैन में जिसका बचपन बीता, वह राजकुमार महेन्द्र, सम्राट अशोक का पुत्र था। बौद्ध साहित्य के विकास में ये छोटी छोटी हकीकतें भाषादृष्टि से खूब सूचक हैं। ये हकीकतें सामने रखकर अब निर्णय करना होगा कि बौद्ध धार्मिक साहित्य की पालि भाषा किसी एक भौगोलिक प्रदेश की प्रचलित भाषा हो सकती है? विद्वानों ने पुनः पुनः पालि को kunst sprache 'संस्कृति की भाषा' कदाचित् 'मिश्रभाषा' भी कहा है। संस्कृति की भाषा के मूल में भी हमेशा किसी न किसी प्रदेश की बोली होती है, इसलिए पालि के तल में किस बोली का प्रभाव है इसका विवाद किया जाता है। वस्तुतः प्राचीनतम बौद्ध साहित्य भी, निर्वाण के बाद करीब चार सौ साल के बाद ही लिपिबद्ध होता है, और वह भी अनेक तरह के भिक्षुओं की बोलियों के प्रभाव के बाद। इससे यह मानना स्वाभाविक हो जाता है कि, जो पालि साहित्य हमारी समक्ष है वह पूर्व और पश्चिम की भाषाओं के मिश्रण के बाद, धार्मिक शैली में लिखा गया है, स्थल या काल की स्पष्ट भेदरेखायें उसमें से मिलनी मुश्किल हैं।

प्राकृत साहित्य का दूसरा अंग है जैन आगम साहित्य। महावीर भी पूर्व में पैदा हुए, और पूर्व की भाषा में ही उन्होंने धर्मोपदेश किया। वैशाली के उपनगर में उनका जन्म, और घूमे मगध में। जैन परंपराके अनुसार महावीर ने अपना उपदेश उनके पट्टशिष्यों को समझाया, और वे पट्टशिष्य–गणधर–उस उपदेश के संहननकार बने। वह उपदेश मगध की प्रचलित भाषा में था। बुद्ध भी मगध में घूमे, किन्तु वह परदेसी थे। उनका जन्म था कोसल में और शिक्षा कोसल

में पाई थी। महावीर मगध के-उत्तर मगध के-निवासी थे। यह भेद उनकी भाषा के भेद समझने के लिए स्पष्ट करना आवश्यक है।

गणधरों से संगृहीत महावीर वाणी हमको तीन वाचना के वाद ही मिलती है। जैसे वौद्ध परम्परा में तीन वाचनायें हैं, वैसे जैन परम्परा में भी तीन वाचनायें हैं। मुझे तो यह एक अत्यंत विलक्षण अकस्मात् मालूम होता है। दोनों की ऐतिहासिकता भी विवादास्पद है। प्रथम वाचना महावीर निर्वाण के १६० साल के वाद पाटलीपुत्र में होती है। परंपरानुसार वीर निर्वाण के १५० साल के वाद मगध-पाटलीपुत्र-में भयानक अकाल पड़ा, और भद्रवाहु प्रभृति जैन श्रमणों को वहां से दूर चले जाना पड़ा, आत्मरक्षा के लिए। कुछ श्रमण वहां रहे भी। अकाल के वाद मालूम हुआ, ऐसे आघातों से स्मृतिसंचित उपदेश नष्टप्राय होते जायेंगे, उनको व्यवस्थित करना आवश्यक है। तदनुसार पाटलीपुत्र में जैन श्रमण संघ की परिषद मिली, और आगम साहित्य की व्यवस्था की गई। यह हुआ करीव ई० पू० की चौथी सदी में। इस परिषद के वाद करीव आठ सौ साल तक आगम साहित्य की कोई मरम्मत नहीं होती। दूसरी परिषद मिली मथुरा में, ई० की चौथी सदी में। उसके दो सौ साल के बाद तिसरी परिषद मिलती है। देवर्धिगणि उसके प्रमुख थे। ई० की छट्ठी शताव्दी की इस आखिरी परिषद के समय अनेक प्रतियों को मिलाकर आधारभूत पाठ निर्णय करने का प्रयत्न होता है। भिन्न-भिन्न प्रतियों को मिलाकर जव नई प्रति लिखी जाती है, तव साधारणतया, शुद्ध पाठ के वजाय अत्यंत मिश्रित पाठपरंपरा खड़ी होती है। जैसे महाभारत के टीकाकार नीलकंठ लिखते हैं—

वहून्समाहृत्य विभिन्नदेश्यान् कोशान्विनिश्चित्य च पाठमग्र्यम्।
प्राचां गुरूणामनुसृत्य — वाचमारभ्यते भारतभावदीपः॥

इससे नीलकंठ के पाठ को स्वीकारने में महाभारत के संपादक को खूव सावधानी रखनी पड़ती है।

परंपरानुसार, आगम साहित्य में महावीर का उपदेश संचित है, और उस साहित्य की भाषा को अर्धमागधी कहते हैं। खुद आगम साहित्य में इस नामका उल्लेख आता है। जिस काल में इस भाषा में उपदेश दिया गया, और जिस काल में उसकी साहित्यिक संघटना हुई इन दोनों के वीच करीव एक हजार साल का अंतर है, और यह हकी-

कत ही भाषाशास्त्री को निराश करने के लिए काफी है। यह सत्य है कि स्मृतिसंचित उपदेश- साहित्य- काल के बदलने पर भाषा भी बदलते हैं। बौद्ध साहित्य की वाचनाएँ बुद्ध के निर्वाण के बाद पांच सौ साल में पूरी होती है, आगम साहित्य की वाचनायें महावीर के निर्वाण के बाद एक हजार साल के बाद पूरी होती हैं। इस दृष्टि से संभव है कि आगम साहित्य की भाषा पिटकों से अर्वाचीन हो। किन्तु, इसमें कुछ तारतम्य भी है। स्थल दृष्टि से जितने आघात पालि साहित्य पर होते हैं उतने आगम साहित्य पर नहीं होते। पिटक लिखे गये सिंहलद्वीप में, उनको ले जानेवाला उज्जैन से प्रभावित, उनकी रचना हुई थी पाटलीपुत्र में। अलबत्त, यह सब होता है अल्पसमय में, बुद्ध के उपदेश की स्मृति भी ताजी होगी उसमें शक नहीं। जब सम्राट अशोक अपने लेख में कहते हैं कि ये धम्मपलियाय 'स्वयं भगवता बुद्धेन भासिते' तब उनको न मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं। प्रादेशिक बोलियों का उस भाषा पर कुछ प्रभाव होते हुए भी मूल का अर्थ व्यवस्थित रहा होगा। आगम साहित्य में कुछ अलग व्यवस्था है। उसमें बहुत सा साहित्य नष्टप्राय हो गया होगा। किन्तु, जो कुछ बच गया उसकी भाषा इतनी मिश्रित नहीं है, जितनी पालिसाहित्य की है। आगम साहित्य के प्राचीनतम स्तरों में मगध की भाषा का कुछ खयाल मिलता है, और स्पष्टता से भी। इसका कारण यह हो सकता है कि जैन धर्म का प्रसार परिमित था, संघ और विहार इतने विपुल न थे, जितने बौद्धों के, और, परंपरागत साहित्य की सुरक्षा करने में जैन साधु संघ अधिक जागृत भी था। इन सब कारणों से, सामान्य दृष्टिसे पालि से अर्वाचीन होते हुए भी, अर्धमागधी साहित्य स्थल दृष्टिसे अधिक आधारभूत है।

बुद्ध और महावीर के काल की भाषापरिस्थिति समझने के लिए धार्मिक साहित्य को छोडकर यदि हम शिलालेखों के प्राकृतों का निरीक्षण करें तो अधिक आधारभूत सामग्री प्राप्त होती है। हमने देखा कि जो अर्धमागधी आगमसाहित्य हमारी समक्ष आता है वह काल-क्रम से ठीक ठीक परिवर्तित स्वरूप से आता है, यद्यपि पूर्व की बोली के कुछ लक्षण उसमें है। पालि साहित्य में भी प्राचीन तत्त्वों की रक्षा होती है, किन्तु पूर्व की अपेक्षा उसमें मध्यदेश का अधिक प्रभाव है। इसलिए इस साहित्य से प्राचीन बोलियों के आधारभूत प्रमाण निकालना मुश्किल

हो जाता है। इसमें हमको अधिक सहाय तो सम्राट अशोक के शिला-लेख—जो ई० पू०२७०-२५० के अरसे में लिखे गए हैं—से मिलती है। उनके विशाल साम्राज्य की फैली हुई सीमाओं पर खुदवाये गये इन शिलालेखों को सचमुच ही भारत का प्रथम लिंग्वीस्टीक सर्वे का नाम मिला है। अशोक ने ये शिलालेख उनके धर्म को फैलाने के लिए व उनके राज्याधिकारीओं को उनकी दृष्टि समझाने के लिए खुदवाये। यद्यपि ये शिलालेख एक ही शैली में लिखे गए हैं, फिर भी उनकी भाषा में स्थलानुसार भेद मालूम होता है। दूर उत्तरपूर्व में शाहबाझगढी और मानसेरा में लिखे गए लेख दक्षिण-पश्चिम के गिरनार के लेख से भाषा-दृष्टि से भिन्न हैं। इन शिलालेखों के सभी भाषाभेद यद्यपि समझाना मुश्किल है तो भी ये शिलालेख तत्कालीन भाषापरिस्थिति समझने के लिए एक अनोखा साहित्य है। ये लेख लिखे गए ई० पू० के तीसरे शतक में, और उनकी भाषा है अशोक की राजभाषा, उनके administration और court की भाषा। राजभाषा हमेशा बोलचाल की भाषा से कुछ प्राचीन (archaic) ढंग की होती है। उससे उसकी शिष्टता निभती है। ई० पू० के तीसरे शतक की राजभाषा, ई० पू० के पाँचवें शतक कि पूर्वी बोलियों से अधिक भिन्न न होगी ऐसा अनुमान करने में खास बाधा नहीं। इससे, अशोक की भाषा का अध्ययन हमको बुद्ध और महावीर की समकालीन भाषा के निकट ले जाता है। भाषादृष्टि से अशोक के लेख चार विभाग में बाँट सकते हैं—उत्तर पश्चिम के लेख, गिरनार का लेख, गंगा जमना से लेकर महानदी तक के लेख, और दक्षिण के लेख। जिस प्रदेश की राजभाषा से अशोक की राजभाषा खास तौर से भिन्न न हो, अथवा जहाँ अशोक की राजभाषा आसानी से समझी जा सकती हो वहाँ अशोक के लेख अपनी निजी पूर्वी बोली में ही लिखे जायँ यह स्वाभाविक अनुमान हो सकता है। इस दृष्टि से गंगा जमुना से लेकर महानदी तक के उनके लेख कुछ-कुछ भेद छोड़कर अशोक की राजभाषा में ही लिखे गए हैं। किन्तु जो प्रदेश दूर दूर के हैं, जहाँ की भाषा अशोक की राजभाषा से अत्यन्त भिन्न है, वहाँ के लेख उसी प्रदेश की भाषा से अत्यन्त प्रभावित होते हैं, ताकि वहाँ के लोग अशोक के अनुशासन को अच्छी तरह से समझ सके। उत्तर-पश्चिम के लेख वहाँ की बोली के नमूने हैं। गिरनार का शिलालेख

सौराष्ट्र की बोली का- यद्यपि यहाँ मध्यदेश का काफी प्रभाव मालूम होता है—पुरोगामी है। दक्षिण में परिस्थिति जरा अलग है। दक्षिण की भाषा आर्य भाषा से बिलकुल भिन्न होने वहाँ की भाषा का कोई प्रभाव अशोक की भाषा पर जम नहीं सकता। अधिकांश ये लेख पूर्व की राजभाषा में ही लिखे गए हैं, जो कुछ भेद नजर में आता है वह पश्चिम का असर होने से मालूम होता है। इससे इनकी भाषा का साँची, बैराट और रूपनाथ के लेख से कुछ साम्य मिलता है।

अशोक के लेखों में बोली भेद का जो निदर्शन होता है उसको हम पूर्वनिदर्शित साहित्य के विभाजन के साथ मिला सकते हैं। वैदिक साहित्य, साहित्य का प्राकृत और अशोक के लेख, इन तीनों को मिलाकर हम बुद्ध और महावीर के समय की भाषा का खयाल थोड़ा बहुत स्पष्ट कर सकेंगे। अशोक के उत्तरपश्चिम के लेखों के साथ भारत के बाहर मिले हुए प्राकृत साहित्य का भी संबंध है। गोशृंग की गुफा से फ्रेन्च यात्री द्यु त्र्य द ह्राँ को खरोष्ठी लिपि में जो धम्मपद मिला वह प्राकृत धम्मपद के नाम से प्रसिद्ध है। शायद यह उत्तरपश्चिम में ही लिखा गया होगा ऐसा माना जाता है। उसका काल ई० की दूसरी सदी गिना जाता है। उत्तरपश्चिम की कुछ विशेषताएँ इस धम्मपद में भी पाई जाती हैं, और वे अशोक के यहाँ के लेखों में भी मिलती हैं। ईरानीय बोलियों की कुछ विशिष्टताएँ भी इनमें मौजूद हैं जो भौगोलिक दृष्टि से स्वाभाविक ही है। उसके बाद, सर ओरेल स्टाइन को चाइनीज़ तुर्कस्तान से मिले हुए कुछ खतपत्र भी इसके साथ गिनने चाहिए। ये खतपत्र ई० के तीसरे शतक में लिखे गए हैं। यह साहित्य खोटन—कुस्तान—की सरहद से, जगह का नाम है निय—प्राचीन नाम चडोत—खरोष्ठी लिपि में लिखा हुआ मिलता है। इसको निय प्राकृत के नाम से भी जानते हैं। यह साहित्य राजव्यवहार के लिए लिखा गया है, और उसकी भाषा से मालूम होता है कि उसका उद्भव पेशावर के नजदीक ही हुआ होगा। इसकी भाषा का संबंध, एक ओर से द्यु त्र्य द हां से और दुसरी ओर से वर्तमान दरद भाषाओं से; खास करके तोरवाली से, और अशोक के उत्तरकालीन खरोष्ठी लेखों से है। गिरनार के लेख की भाषा का संबंध साहित्यिक पालि से है; उसका कारण यही हो सकता है कि साहित्यिक पालि का अधिक संबंध मध्यदेश की भाषा से है, और गिरनार के लेख की भाषा पर जो

मध्यदेश की भाषा का प्रभाव है वह उनको पालि की ओर खिंचता है। गंगा जमना से लेकर महानदी पर्यन्त के पूर्व के शिलालेखों की भाषा से संबंध है नाटकों की मागधी का। दक्षिण के आलेख आर्येतर भाषा-भाषी प्रजा के बीच में लिखे गए हैं, इसलिए प्रधानतः ये आलेख पूर्व के आलेखों की भाषा से तात्त्विक दृष्टि से भिन्न नहीं, और जो कुछ भिन्नता मालूम होती है वह भिन्नता उनको जैनों की अर्धमागधी की ओर खिंच जाती है। कुछ अंश से वैराट, साँची और रूपनाथ के लेख भी इनसे साम्य रखते हैं यह बात आगे सूचित की गई है। साहित्यिक प्राकृतों और लेखों के प्राकृत का संबंध हमको तत्कालीन बोली विभागों का कुछ ख्याल अवश्य स्पष्ट कराता है। अलबत्त, यह भाषाचित्र कितना अपूर्ण है, उसमें कितने शंकास्थान हैं, उसका ख्याल तो जब हम यह विविध भाषासामग्री का विवरण करेंगे तब ही आयगा।

प्राचीन बोली विभागों के अभ्यास में कुछ दिशासूचन नाटकों के प्राकृत से भी मिलता है। संस्कृत नाटकों में प्राकृत का प्रयोग करने की प्रणालिका संस्कृत नाटकों के जितनी ही पुरानी है। नाट्यशास्त्र के विधानों से पूर्व ही नाटकों में विविध पात्रों के लिए विविध प्रकार के प्राकृतों का प्रयोग करना ऐसी रूढि होगी। कौन से पात्र किस तरह का प्राकृत का व्यवहार करें इस विषय में जो निर्णय किए गए हैं उसका प्राचीन बोली विभाजन से कुछ संबंध है? संस्कृत नाटक, जिस रूप में वह हमारे सामने है उसको क्या प्राचीन लोक जीवन का चित्र गिना जा सकता है? सिल्वाँ लेव्ही ने ठीक ही कहा है कि काव्य और आख्यानसंवाद (Epic) को साहित्य से तख्तों पर ले जाने का जो प्रयोग वही है संस्कृत नाटक। उसका समर्थन करते हुए, उनके शिष्य भुल् ब्लोखने भी ठीक ही लिखा है कि अगर हम संस्कृत नाटक को लोक जीवन का प्रतिबिंब मानेंगे तो भ्रान्ति होगी। और खास तौर से संस्कृत नाटक में भाषा की जो रूढियाँ हैं उनका तो प्रत्यक्ष जीवन से कोई संबंध नहीं। प्रधानतया तीन भाषाओं का व्यवहार संस्कृत नाटक में होता है—संस्कृत, शौरसेनी और मागधी। शिष्टजन संस्कृत में व्यवहार करते हैं, शिक्षित स्त्रीवर्ग और अशिक्षित पुरुषवर्ग शौरसेनी में व्यवहार करते हैं, और जिनकी मजाक करनी है, जो नीच कुल के हैं, वे मागधी में व्यवहार करते हैं। ये विभाग क्या किसी बोली-

भेद के विशिष्ट व्यंजक हो सकते हैं? शौरसेनी उच्चकुल की स्त्रियों और मध्यमवर्ग के पुरुषों की भाषा नहीं, किन्तु वह सूचक है मथुरा में विकसित नटवर्ग की बोलचाल के शिष्ट प्रतीक की। पूर्व के लोक, मध्यदेश की अपेक्षा हमेशा असंस्कृत और अशिष्ट माने जाते थे, इसलिए जिस पात्र को नीच मानना हो, जिसकी मजाक करने की हो उसके मुख में मागधी रखना एक रूढि ही बन गई। प्राचीनतम नाटकों में, और खास करके अश्वघोष के नाटकों में उत्तरकालीन नाटकों की अपेक्षा, अन्य प्रकार की प्रणाली दिखाई देती है। अश्वघोष के नाटक कुशानकाल की ब्राह्मी में लिखे हुए मालूम होते हैं, और उनका समय है ई० का दूसरा शतक। इन प्राचीन नाटकों की भाषाप्रणाली, उत्तरकालीन नाटकों से कुछ भिन्न है। उत्तरकालीन नाटकों में अनुपलब्ध, किन्तु भरतविहित, नाटकों की अर्धमागधी भी यहाँ प्राप्त होती है। यहाँ शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी के प्राचीन स्वरूपों का प्रयोग किया गया है। तदनन्तर, भास के नाटकों में प्राचीन प्राकृतों का व्यवहार मिलता है, और प्राकृतों का वैविध्य देखने को मिलता है शूद्रक के मृच्छकटिक में, यद्यपि शूद्रक का प्राकृत भास से ठीक ठीक अर्वाचीन है। भारत के बाहर जो प्राकृतें मिलती हैं उनसे एक विशिष्ट दिशा-सूचन होता है। नियप्राकृत के व्याकरण का स्वरूप अत्यंत विकसित है। जो विकास अपभ्रंश काल में भारत में होता है वह विकास ई० के दूसरे और तीसरे शतक के इस नियप्राकृत में होता है। इन प्राकृतों का ध्वनिस्वरूप प्राचीन ही है, सिर्फ व्याकरण का स्वरूप अत्यंत विकसित है। इससे अनुमान तो यही होता है कि भारत के साहित्यिक प्राकृत प्रधानतया रूढिचुस्त (conservative) थे, वैयाकरणों के विधि-विधान से ही लिखे जाते थे, और संस्कृत को आदर्श रखकर केवल शिष्टस्वरूप में लिखे जाते थे, किन्तु संस्कृत के प्रभाव से दूर जो प्राकृत लिखे गये वे अधिक विकासशील थे।

प्राकृतों के अभ्यास में हमें यह देखना होगा कि उसमें भी शिष्टता का प्रभाव कितना है, और हम तत्कालीन बोलचाल से कितने दूर वा निकट हैं।

प्राकृतों के प्राचीनतम स्वरूप का ख़याल पाने के लिए हमको साहित्यिक प्राकृत, लेखों के प्राकृत, नाटकों के प्राकृत और भारत बाहर के प्राकृतों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करना होगा, सब में से अंशतः

सहायता मिलेगी। इन सब में से लेखों के प्राकृत तत्कालीन भाषा स्वरूप के खयाल को विशद करने में अधिक सहायकारक हैं, इस वास्ते उनको केन्द्र में रखकर बुद्ध और महावीर के काल की भाषा-परिस्थिति का कुछ चित्र उपस्थित होगा।

उत्तरपश्चिम की भाषा का खयाल हमको मानसेरा और शाहबाज़गढी के लेखों से मिलता है। तदुपरांत भारत बाहर के प्राकृत और उत्तरकालीन खरोष्ठी लेखों का संबंध भी उत्तर के साथ ही है।

ऋ का विकास दो तरह से होता है—रि, रु, क्वचित् 'र' भी होता है। इस 'र' के प्रभाव से अनुगामी दंत्य का मूर्धन्य शाहबाज़गढी में होता है, मानसेरा में ऐसा नहीं होता।

शाह० मुग, क्रिट, ग्रहथ, वुढेषु,

मान० म्रिग, वुध्रेसु (वृद्धेषु)।

प्रधानतया स्वरान्तर्गत असंयुक्त व्यंजन मूल रूप में ही रहते हैं। निय प्राकृत में कुछ विशेष परिवर्तन होते हैं। स्वरान्तर्गत क च ट त प श स का घोषभाव होता है, और इन घोषवर्णों का घर्षभाव होता है। यह घटना व्यंजनों के संपूर्ण नाश के पूर्व की आवश्यक अवान्तर अवस्था है: अवकाश—[1]अवगज, प्रचुर—प्रशुर, कुक्कुट—ककुड, कोटि—कोडि यह विशिष्टता भारत के खरोष्ठी लेखों से भी मिलती है। निय प्राकृत में अशोक के लेखों से अधिक विकसित भूमिका है, इससे अधिकांश स्वरान्तर्गत महाप्राणों का 'ह' होता है—'एहि, लिहति (लिखति), संमुह, प्रमुह, सुह, असहु (अस्मभ्यम्), तुमहु, लहंति (लभन्ते), परिहप (परिभाषा), गोहोमि, गोम, गोहूम (गोधूम)।

प्रधानतया श ष और स व्यवस्थित रूप से पाये जाते हैं: शाह० मान०,

दोष, प्रियदशि, शत, ओषढिनि,इ. इ.।

–य जिसका अन्त भाग है ऐसे संयुक्त व्यंजनों में -य का लोप होता है–

शाह० मा० : कलण (कल्याण-), कटव (कर्तव्य-),

शाह० अपच, मान० अपचे (अपत्य),

शाह० एकतिए, मान० एकतिय (-त्य),

१—शब्द के ऊपर दण्ड '।' घर्षत्व सूचक है।

निय प्रा० ज्य : रज (राज्य), जेठ (ज्येष्ठ-),
द्य : अज, खज,
ध्य : वि.ंति,
भ्य : अबोमत (अभ्यवमत-)
व्य : दद्व्यो, -वो,
श्य : अवश, नशति,
ष्य : करिशदि, मनुश,

श्य, ष्य, का यह विकास उत्तर में सार्वत्रिक है—

अशोक में अरभिशंति, मनुश, अनपेशंति; प्राकृत धम्मपद में भी देवमनुशन।

रयुक्त व्यंजन यथास्वरूप रहते हैं—

शाह० मान : प्रज, व्रमन, ध्रम, द्रशन, अपवाद: शाह० दियढ, मान० दियढ(द्वि-अर्ध-)।

निय : अर्जुनस, अर्थ, गर्भ, विसर्जिद, अर्ग (अग्र-) व्यग्र (व्याघ्र)।

र लोप के जो कुछ उदाहरण मिलते हैं वे संभवतः पूर्व से आगन्तुक शब्द हो सकते हैं, उनके दोनों ही स्वरूप [र युक्त और र लुप्त साथ ही मिलते हैं, जो इस अनुमान को साधार करते हैं: सव (सर्व,) अध, अढ (अर्ध)।

संयुक्त व्यंजनों में र का स्थानपरिवर्तन उत्तरपश्चिम की विशिष्टता है। अशोक में और प्राकृत धम्मपद में उसके उदाहरण मिलते हैं, निय प्राकृत में वा उत्तरकालीन खरोष्ठी आलेखों में यह प्रक्रिया दृष्टि-गोचर नहीं होती।

शाह० मान० : प्रभगर, ध्रम, क्रम, द्रशन, प्रुव,

ध्रु त्रच द हाँ : द्रुगति, द्रुमेधिनो, द्रुध, प्रवत,

किन्तु निय में उनके उदाहरण कम हैं: त्रुभिछ (दुर्भिक्ष)।

ल युक्त संयुक्त व्यंजनों का लोप अशोक के उत्तर पश्चिम के लेखों में होता है, किन्तु निय में प्राचीन रूप ल युक्त मिलते हैं :

शाह० मान० अप, कप।

निय: जलिपत, अल्प, जल्म (जाल्म-), शिल्पिगं।

सामान्यतया त्व और द्व के अशोक के आलेखों में त (गिरनार में त्प) और दुव (गिरनार में द्व, शाहबाज़गढ़ी में व) होते हैं। वैदिक उच्चारण में जहां त्व और द्व के उच्चारण द्विमात्रिक (dissyllabic) तुअ,

दुश्र होते थे वहां स्वाभाविकतया त और द मिलते हैं,और द्वि का उच्चारण एकमात्रिक monosyllabic होने से उसका बि होने की शक्यता है। नियप्राकृत में और उत्तरकालीन खरोष्ठी आलेखों में भी त्व > त्प > प होता है :

नियः चपरिश (चत्वारिंशत्),

खरोष्ठी आ० : सप- (सत्व-), एकचपरिशइ (एकचत्वारिंशत्),

नियप्राकृत में द्व के ब और द्व दोनों मिलते हैं—बदश, विति, द्वदश, द्वि, भद्व, द्वर।

क्ष और त्स के छ और स होते हैं। इनमें छ पश्चिमोत्तर की विशेषता है, स तो सब आलेखों की सामान्य प्रक्रिया है।

शाह० मान० : मोछ (मोक्ष) चिकिसा (चिकित्सा),

अपवाद : शाह० खुद्रक, मान० खुद (क्षुद्र-)।

नियप्राकृत में क्ष का छ होता है किन्तु त्स वैसे ही रह जाता है।

निय प्रा० : क्ष : छेत्र, योगछेम, भिछु, दछिन,

अपवाद : खोरितग (क्षुर-), भिघु (भिक्षु-)

त्स : संवत्सर, वत्स,

अपवाद : त्स: ओसुक (औत्सुक्य-)।

स युक्त संयुक्त व्यंजन कचित् अनुगामी दंत्य कि नति करता है, कचित् दंत्य वच भी जाता है। दूसरे आलेखों कि अपेक्षा वह नतिभाव उल्लेखनीय है।

शाह० मान० : ग्रहथ, अस्ति, उठन (उत्थान,-),

शाह० : अस्त, विस्त्रिटेन (विस्तृतेन),

मान० : अठ (अष्टन्),

शाह० के आलेख में दंत्य और मूर्धन्य की नियतता नहीं, जैसे स्रेस्तमति, स्रेठम, अस्तवष (मान-अठवष), इससे अनुमान हो सकता है कि वहां मूर्धन्यों का उच्चारण वर्त्स्य होगा।

स्म > स्व > स्प। सप्तमी ए. व. का स्मि (स्मिन्) होता है। स्पग्रम् (स्वर्गम्)।

निय प्राकृत में स्म > म्म, और सप्तमी ए. व. का स्मि होता है। तदनुसार खरोष्टी आलेखों में भी। प्राकृत धम्मपद में तीनों रूप— स्म, स्व और स मिलते हैं: अनुस्मरो, अस्मि, स्वदि, प्रतिस्वदो,-स

(सप्तमी ए० व० में) : अस्मि लोके परस च । इससे मालूम होता है कि पश्चिमोत्तर में सप्तमी विभक्ति के प्रयोग में काफी विकल्प विद्यमान थे ।

व्याकरण की दृष्टि से इस विभाग की एक दो हकीकतें खास उल्लेखनीय हैं । संबंधक भूतकृदंतका प्रत्यय यहां त्वी है । वेद में इस प्रत्ययका काफी प्रयोग मिलता है । नियप्राकृत में भी तिं मिलता है : श्रुनिति (श्रुत्वा), अप्रुछिति (अपृष्ट्वा) । प्राकृत धम्मपद में भी उपजिति, परिवजेति । उल्लेखनीय बात तो यह है कि यहां सामान्यतः त्व का त्प होते हुए भी भूतकृदंत में त्व चालू रहता है । हेत्वर्थ का प्रयोग अशोक में और नियप्राकृत में–'नये' है : दमनये । अन्यत्र तवे मिलता है । निय में तुम् के कुछ रूप मिलते हैं : कर्तुं, अगन्तु ।

यह पश्चिमोत्तर विभाग में अकारान्त नामों के प्रथमा ए० व० के दोनों प्रत्यय - ए और - ओ प्रचलित मालूम होते हैं । प्रधानतः शाह० में -ओ है, मान० में- ए । निय प्राकृत में भी- ए अधिक प्रचलित है । उत्तरकालीन खरोष्ठी लेखों में तो दोनों का प्रयोग है, सिन्धु नदी के पश्चिम के लेखों में- ए, अन्यत्र -ओ । प्राकृतधम्मपद में -ओ और -उ मिलते हैं, -उ अधिक अर्वाचीनता के प्रभाव का सूचक है । निय प्राकृत में पंचमी ए० व० का - आतः का भी – ए प्रचलित है : तदे, चडोददे, गोठदे, शवथदे । हम आगे देखेंगे कि यह -ए प्रत्यय मागधी की विशिष्टता माना जाता है ।

ध्वनि की अपेक्षा निय प्राकृत के व्याकरण का स्वरूप अत्यंत विकसित है । भारत के अन्य प्राकृत साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव गहरा है, किन्तु निय प्राकृत भारत बाहर सुरक्षित होने से शायद इस प्रभाव से मुक्त रहा, वही उसका कारण हो सकता है । निय प्राकृत का काल ई. की तीसरी सदी है, किन्तु उसके व्याकरण का स्वरूप तत्कालीन भारत के अन्य प्राकृत साहित्य की तुलना में अधिक विकसित है । उसके कुछ उदाहरण उल्लेखनीय है ।

नाम के सब रूपाख्यान अकारान्त नामों के अनुसार होते हैं । -इ -उ ∠ ऋ कारान्त नामों को -अ लगा देने से ऐसी परिस्थिति बनाई गई है जिससे अपभ्रंश की याद आती है । अपभ्रंश की तरह प्रथमा और द्वितीया में प्रत्ययभेद नहीं । भूतकाल कर्मणिभूतकृदंत से सूचित

होता है—active भूतकाल–इसके उदाहरण तो हमको नव्य भारतीय आर्य भाषाओं से ही मिलेंगे।

उदा—निय में 'दा' का active भूतकाल ऐसा होगा:—

ए. व.	ब. व.
दितेमि	दितम
दितेसि	दितेथ
दित	दितन्ति

इसकी विकासरेखा इस प्रकार सूचित की गई है : दितः अस्मि–दितेमि, दिताः स्म–दितम, इसका आधार भी मिलता है, क्योंकि प्र. पु. ए. व. में कहीं–ओस्मि भी मिलता है, जो मूल रूप को सूचित करता है। जहाँ कर्मणिभूत का सूचन करना हो वहाँ–क का आगम होता है जैसे दित 'दिया', दितग (वा दितए) 'दिया हुआ'। इस ग्रंथ के समय को लक्ष्य में रखते हुए, भूतकाल का यह प्रयोग अत्यन्त महत्त्व का हो जाता है। नव्य भारतीय आर्य भाषा में ऐसे प्रयोग प्रचलित हैं, और इस विषय में ज़ुल् ब्लोखने आलोचना की है (लाँदो आर्या पृ० २७६)। प्राचीन सिंहली और अर्वाचीन सिंहली में दुन्मो—(* दिन्न स्मः) 'हमने दिया,' अर्वाचीन सिंहली में कपुवेमि (* कल्पितको स्मि) 'मैंने काटा,' बिहारी में देखले हूँ—'मैंने देखा,' बँगला तृ. पु. ए. व. देखिल 'उसने देखा' इ. इ.।

गिरनार के लेख की भाषा पश्चिमोत्तर और पूर्व से भिन्न भाषा प्रदेश सूचित करती है। इस भाषा की कुछ विशेषताएं इसे साहित्यिक पालि के निकट ले जाती है। पश्चिमोत्तर का कुछ प्रभाव तो गिरनार में मालूम होता ही है, और वह गुजरात सौराष्ट्र की भाषास्थिति के अनुकूल ही है। पालि प्रधानतया मध्यदेश में विकसित साहित्यिक भाषा है, और उसका सम्बन्ध प्राचीन शौरसेनी से होगा। किन्तु मध्यदेश में जो अशोक के लेख हैं उनकी भाषा पूर्व की ही-मगध की है। मध्यदेश में अशोक की राजभाषा समझना दुःसाध्य न होने से वहाँ के लेखों पर स्थानिक प्रभाव पड़ने की कोई आवश्यकता न थी। पश्चिमोत्तर और पश्चिमदक्षिण के प्रदेश दूर होने से, वहाँ की भाषा ने अशोक के शिलालेख की भाषा को उनके निजी ढाँचे में डाली, यह भी उतना ही स्वाभाविक है।

(सप्तमी ए० व० में) : अस्मि लोके परस च । इससे मालूम होता है कि पश्चिमोत्तार में सप्तमी विभक्ति के प्रयोग में काफी विकल्प विद्यमान थे ।

व्याकरण की दृष्टि से इस विभाग की एक दो हकीकतें खास उल्लेखनीय हैं । संबंधक भूतकृदंतका प्रत्यय यहां त्वी है । वेद में इस प्रत्यय-का काफी प्रयोग मिलता है । नियप्राकृत में भी ति मिलता है : श्रुनिति (श्रुत्वा), अप्रुछिति (अपृष्ट्वा) । प्राकृत धम्मपद में भी उपजिति, परिवजेति । उल्लेखनीय बात तो यह है कि यहां सामान्यतः त्व का त्प होते हुए भी भूतकृदंत में त्व चालू रहता है । हेत्वर्थ का प्रयोग अशोक में और नियप्राकृत में–'नये' है : ज्ञमनये । अन्यत्र तवे मिलता है । निय में तुम् के कुछ रूप मिलते हैं : कर्तु, अगन्तु ।

यह पश्चिमोत्तार विभाग में अकारान्त नामों के प्रथमा ए० व० के दोनों प्रत्यय - ए और - ओ प्रचलित मालूम होते हैं । प्रधानतः शाह० में -ओ है, मान० में- ए । निय प्राकृत में भी- ए अधिक प्रचलित है । उत्तर-कालीन खरोष्ठी लेखों में तो दोनों का प्रयोग है, सिन्धु नदी के पश्चिम के लेखों में- ए, अन्यत्र -ओ । प्राकृतधम्मपद में -ओ और -उ मिलते हैं, -उ अधिक अर्वाचीनता के प्रभाव का सूचक है । निय प्राकृत में पंचमी ए० व० का - आतः का भी – ए प्रचलित है : तदे, चडोददे, गोठदे, शवथदे । हम आगे देखेंगे कि यह -ए प्रत्यय मागधी की विशिष्टता माना जाता है ।

ध्वनि की अपेक्षा निय प्राकृत के व्याकरण का स्वरूप अत्यंत विकसित है । भारत के अन्य प्राकृत साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव गहरा है, किन्तु निय प्राकृत भारत बाहर सुरक्षित होने से शायद इस प्रभाव से मुक्त रहा, वही उसका कारण हो सकता है । निय प्राकृत का काल ई. की तीसरी सदी है, किन्तु उसके व्याकरण का स्वरूप तत्कालीन भारत के अन्य प्राकृत साहित्य की तुलना में अधिक विकसित है । उसके कुछ उदाहरण उल्लेखनीय है ।

नाम के सब रूपाख्यान अकारान्त नामों के अनुसार होते हैं । -इ -उ ∠ ऋ कारान्त नामों को -अ लगा देने से ऐसी परिस्थिति बनाई गई है जिससे अपभ्रंश की याद आती है । अपभ्रंश की तरह प्रथमा और द्वितीया में प्रत्ययभेद नहीं । भूतकाल कर्मणिभूतकृदंत से सूचित

होता है—active भूतकाल—इसके उदाहरण तो हमको नव्य भारतीय आर्य भाषाओं से ही मिलेंगे।

उदा—निय में 'दा' का active भूतकाल ऐसा होगा:—

ए. व.	ब. व.
दितेमि	दितम
दितेसि	दितेथ
दित	दितन्ति

इसकी विकासरेखा इस प्रकार सूचित की गई है : दितः अस्मि—दितेमि, दिताः स्म—दितम, इसका आधार भी मिलता है, क्योंकि प्र. पु. ए. व. में कहीं—ओस्मि भी मिलता है, जो मूल रूप को सूचित करता है। जहाँ कर्मणिभूत का सूचन करना हो वहाँ—क का आगम होता है जैसे दित 'दिया', दितग (वा दितए) 'दिया हुआ'। इस ग्रंथ के समय को लक्ष्य में रखते हुए, भूतकाल का यह प्रयोग अत्यन्त महत्त्व का हो जाता है। नव्य भारतीय आर्य भाषा में ऐसे प्रयोग प्रचलित हैं, और इस विषय में भुल् ब्लोखने आलोचना की है (लाँदो आर्या पृ० २७६)। प्राचीन सिंहली और अर्वाचीन सिंहली में दुन्मो—(* दिन्न स्मः) 'हमने दिया,' अर्वाचीन सिंहली में कपुवेमि (* कल्पितको स्मि) 'मैंने काटा,' बिहारी में देखले हूँ—'मैंने देखा,' बँगला तृ. पु. ए. व. देखिल 'उसने देखा' इ. इ.।

गिरनार के लेख की भाषा पश्चिमोत्तर और पूर्व से भिन्न भाषा प्रदेश सूचित करती है। इस भाषा की कुछ विशेषताएं इसे साहित्यिक पालि के निकट ले जाती है। पश्चिमोत्तर का कुछ प्रभाव तो गिरनार में मालूम होता ही है, और वह गुजरात सौराष्ट्र की भाषास्थिति के अनुकूल ही है। पालि प्रधानतया मध्यदेश में विकसित साहित्यिक भाषा है, और उसका सम्बन्ध प्राचीन शौरसेनी से होगा। किन्तु मध्यदेश में जो अशोक के लेख हैं उनकी भाषा पूर्व की ही-मगध की है। मध्यदेश में अशोक की राजभाषा समझना दुःसाध्य न होने से वहाँ के लेखों पर स्थानिक प्रभाव पड़ने की कोई आवश्यकता न थी। पश्चिमोत्तर और पश्चिमदक्षिण के प्रदेश दूर होने से, वहाँ की भाषा ने अशोक के शिलालेख की भाषा को उनके निजी ढाँचे में डाली, यह भी उतना ही स्वाभाविक है।

ऋ का सामान्यतः अ होता है, ओष्ठ्यवर्ण के सान्निध्य में उ—

मग (मृगः-), मत (मृतः-), दढ (दृढः-)

कतञता (कृतज्ञता), वुत्त (वृत्त-)

मध्यदेश में सामान्यतः ऋ का इ होता है।

श ष स का भेद नहीं रहता, इन सबके लिये स ही मिलता है।

पश्चिमोत्तर के अनुसार क्ष का छ होता है। मध्यदेश में उसका ख मिलता है :

व्रछा, छुद (क्षुद्र-)। अपवाद—इथीझख।

स युक्त संयुक्त व्यंजन में स वैसा ही रहता है।

अस्ति, हस्ति, सस्टि–, स्त्रष्टि।

√स्था उसके ईरानी रूप में–√स्ता रूप में मिलता है, किन्तु उसका मूर्धन्यभाव भी होता है: √स्टा–स्टिता, तिस्टंतो, वरस्त।

सामान्यतया मध्यदेश में इसका ठ हो जाता है।

र और य युक्त संयुक्त व्यंजनों का सावर्ण्य होता है (assimilation)।

व्य वैसा ही रहता है :

अतिकातं (अतिक्रान्त), ती (त्रि०),परता (-त्र), सव, अपचं, कलान (कल्याण) इथीझख (स्त्री-अध्यक्ष-)।

मगव्य, कतव्य।

त्व और त्म का त्प होता है :

चत्पारो, आत्प।

प्राचीन शौरसेनी में त्ता मिलता है, तदनुसार सम्बन्धक भूतकृदंत में -त्वा > -त्पा मिलता है।

हेत्वर्थ—छमितवे (* क्षमितुम्)

द्व का द्व द्वादस में मिलता है। दुवे द्वे का प्रयोग भी मिलता है।

अकारान्त पु० प्रथमा ए० व० का प्रत्यय सामान्यत :–ओ है, सप्तमी ए० व० का –म्हि।

अशोक के शिलालेखों में मध्यदेश की भाषा के नमूने व्यवस्थित रूप से नहीं मिलते, किन्तु यदि उत्तरकालीन साहित्य पर दृष्टिपात करें तो अश्वघोष के नाटकों की नायिका और विदूषक की भाषा—

जिसको ल्यूडर्स यथार्थ प्राचीन शौरसेनी कहते हैं–की तुलना अशोक के गिरनार के लेख के साथ हो सकेगी। मध्यदेश की भाषा के कुछ लक्षण हमको गिरनार में मिलते हैं, और गिरनार के साथ अश्वघोष की भाषा का साधर्म्य वैधर्म्य कितना है उसका पता लग सकता है। मध्यदेश के कुछ लक्षण सर्वसामान्य है —:अस् का ओ, श, ष, स का स। अश्वघोष की शौरसेनी में ज्ञ का ञ्ञ होता है, यद्यपि उत्तरकालीन वैयाकरणों ने ण्ण का विधान किया है, किन्तु गिरनार में भी ञ मिलता है : कृतञता। र युक्त संयुक्त व्यंजनों का सावर्ण्य अश्वघोष की शौरसेनी में भी होता है। मध्यदेश की सामान्य प्रक्रिया ऋ > इ अश्वघोष में मिलती है, गिरनार में नहीं। संयुक्त व्यंजनों में व्य > व्व होता है, गिरनार में नहीं। ष्ट, ष्ठ का ट्ठ होता है, गिरनार में स्ट ही रह जाता है। मध्यदेश की विशिष्टता क्ष > ख अश्वघोष की शौरसेनी में मिलती है, गिरनार में सामान्यतया छ मिलता है। अश्वघोष के नाटकों की भाषा प्राचीन है ही, इससे इसको प्राचीन शौरसेनी कहना ठीक ही है। यह प्राचीन शौरसेनी इस अवस्था में है जहां एकाध अपवाद को छोड़कर स्वरांतर्गत व्यंजनों का घोषभाव— त का द, जो बाद में शौरसेनी का प्रधान लक्षण हो जाता है— मिलता नहीं। प्रायः सब स्वरान्तर्गत व्यंजन अविकृत रहते हैं। इस प्राचीन शौरसेनी की मथुरा के लेखों से— जो शौरसेनी का प्रभव स्थान हो सकता है— तुलना करना मुश्किल है, किन्तु यह अभ्यास स्वतंत्र चिंतनका विषय तो है ही। इन लेखों की भाषापर से संस्कृत का आवरण हटा कर— जो वहां की बोली पर लादा गया है— जब उसका अभ्यास होगा, तब इन हकीकतों पर अधिक प्रकाश जरूर डाला जा सकेगा।

अशोक के पूर्व के लेखों के साथ केवल पूर्व के ही नहीं किन्तु मगध के पश्चिम में लिखे गए कुछ लेखों को भी गिनना होगा। हमने आगे इस बात की चर्चा की है कि जहां मगध की राजभाषा दुर्बोध न थी, वहां के शिलालेख प्रायः पूर्व की ही शैली में लिखे गए। खास तौर से मध्यदेश में जो लेख मिलते हैं उनसे यह बात स्पष्ट होती है। वहां के राज्याधिकारी अशोक की राजभाषा से सुपरिचित होंगे इससे मध्यदेश की छाया उन लेखों पर खास मालूम नहीं होती, और इससे मध्यदेश की बोली के उदाहरण हमको अशोक के लेखों में नहीं मिलते।

ऋ का सामान्यत: अ होता है, ओष्ठ्यवर्ण के सानिध्य में उ—
मग (मृग:-), मत (मृत:-), दृढ (दृढ:-)
कतञता (कृतज्ञता), वुत्त (वृत्त-)
मध्यदेश में सामान्यत: ऋ का इ होता है।

श ष स का भेद नहीं रहता, इन सबके लिये स ही मिलता है।

पश्चिमोत्तर के अनुसार क्ष का छ होता है। मध्यदेश में उसका ख मिलता है :

अछा, छुद (क्षुद्र-)। अपवाद—इथीझख।

स युक्त संयुक्त व्यंजन में स वैसा ही रहता है।

अस्ति, हस्ति, सस्टि—, स्रष्टि।

√स्था उसके ईरानी रूप में—√स्ता रूप में-मिलता है, किन्तु उसका मूर्धन्यभाव भी होता है: √स्टा—स्टिता, तिस्टंतो, वरस्त।
सामान्यतया मध्यदेश में इसका ट्ठ हो जाता है।
र और य युक्त संयुक्त व्यंजनों का सावर्ण्य होता है (assimilation)।
व्य वैसा ही रहता है :
अतिकातं (अतिक्रान्त), ती (त्रि०), परता (-त्र), सव, अपचं, कलान (कल्याण) इथीझख (स्त्री-अध्यक्ष-)।

मगव्य, कतव्य।
त्व और त्म का त्प होता है :
चत्पारो, आत्प।
प्राचीन शौरसेनी में त्वा मिलता है, तदनुसार सम्बन्धक भूतकृदंत में -त्वा > -त्पा मिलता है।
हेत्वर्थ—छमितवे (* क्षमितुम्)
द्व का द्व द्वादस में मिलता है। दुवे द्वे का प्रयोग भी मिलता है।
अकारान्त पु० प्रथमा ए० व० का प्रत्यय सामान्यत :-ओ है, सप्तमी ए० व० का —स्हि।
अशोक के शिलालेखों में मध्यदेश की भाषा के नमूने व्यवस्थित रूप से नहीं मिलते, किन्तु यदि उत्तरकालीन साहित्य पर दृष्टिपात करें तो अश्वघोष के नाटकों की नायिका और विदूषक की भाषा—

जिसको ल्यूडर्स यथार्थ प्राचीन शौरसेनी कहते हैं—की तुलना अशोक के गिरनार के लेख के साथ हो सकेगी। मध्यदेश की भाषा के कुछ लक्षण हमको गिरनार में मिलते हैं, और गिरनार के साथ अश्वघोष की भाषा का साधर्म्य वैधर्म्य कितना है उसका पता लग सकता है। मध्यदेश के कुछ लक्षण सर्वसामान्य है —:अस् का ओ, श, ष, स का स। अश्वघोष की शौरसेनी में ज्ञ का ञ्ञ होता है, यद्यपि उत्तरकालीन वैयाकरणों ने ण्ण का विधान किया है, किन्तु गिरनार में भी ञ मिलता है : कृतञता। र युक्त संयुक्त व्यंजनों का सावर्ण्य अश्वघोष की शौरसेनी में भी होता है। मध्यदेश की सामान्य प्रक्रिया ऋ > इ अश्वघोष में मिलती है, गिरनार में नहीं। संयुक्त व्यंजनों में व्य > व्व होता है, गिरनार में नहीं। ष्ट, ष्ठ का ठ्ठ होता है, गिरनार में स्ट ही रह जाता है। मध्यदेश की विशिष्टता क्ष > ख अश्वघोष की शौरसेनी में मिलती है, गिरनार में सामान्यतया छ मिलता है। अश्वघोष के नाटकों की भाषा प्राचीन है ही, इससे इसको प्राचीन शौरसेनी कहना ठीक ही है। यह प्राचीन शौरसेनी इस अवस्था में है जहां एकाध अपवाद को छोड़कर स्वरांतर्गत व्यंजनों का घोषभाव— त का द, जो बाद में शौरसेनी का प्रधान लक्षण हो जाता है— मिलता नहीं। प्रायः सब स्वरान्तर्गत व्यंजन अविकृत रहते हैं। इस प्राचीन शौरसेनी की मथुरा के लेखों से— जो शौरसेनी का प्रभव स्थान हो सकता है— तुलना करना मुश्किल है, किन्तु यह अभ्यास स्वतंत्र चिंतनका विषय तो है ही। इन लेखों की भाषापर से संस्कृत का आवरण हटा कर— जो वहां की बोली पर लादा गया है— जब उसका अभ्यास होगा, तब इन हकीकतों पर अधिक प्रकाश जरूर डाला जा सकेगा।

अशोक के पूर्व के लेखों के साथ केवल पूर्व के ही नहीं किन्तु मगध के पश्चिम में लिखे गए कुछ लेखों को भी गिनना होगा। हमने आगे इस बात की चर्चा की है कि जहां मगध की राजभाषा दुर्बोध न थी, वहां के शिलालेख प्रायः पूर्व की ही शैली में लिखे गए। खास तौर से मध्यदेश में जो लेख मिलते हैं उनसे यह बात स्पष्ट होती है। वहां के राज्याधिकारी अशोक की राजभाषा से सुपरिचित होंगे इससे मध्यदेश की छाया उन लेखों पर खास मालूम नहीं होती, और इससे मध्यदेश की बोली के उदाहरण हमको अशोक के लेखों में नहीं मिलते।

इस वजह से कालसी टोपरा इ० के लेख पूर्व के धौली जौगड से खास भिन्न नहीं। पूर्व में जो ध्वनिभेद सार्वत्रिक है वह कालसी टोपरा में वैकल्पिक हैं। ऐसी एक दो विशेषताएँ जरूर हैं: पूर्व में र का ल,–ओ का- ए, शब्दान्तर्गत– जैसे कलेति (करोति) सार्वत्रिक है, कालसी टोपरा में ये वैकल्पिक हैं।

पश्चिमोत्तर के लेखों को छोड़कर सब जगह श ष स का स होता है, तदनुसार इस विभाग में भी स ही मिलता है। कालसी में परिस्थिति अनोखी है, वहाँ श ष का भी प्रयोग मिलता है। पहले नौ लेखों में कालसी में गिरनार की तरह श ष की जगह स ही मिलता है, एक दो अपवाद को छोड़कर। उसके बाद अनेक स्थान पर श ष का प्रयोग भी शुरू होता है। यह प्रयोग इतना अनियंत्रितता से होता है, कि मूल संस्कृत के श ष स से भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उसके कुछ उदाहरण—

मूर्धन्य ष—पियदषा, यषो, अपपलाषवे (अपपरिस्रवः)
उषुटेन, उषटेन, उशाता, हेडिषे (ईदृशः)
धंसषंविभागे, धंमषंबंधे,
षम्यापरिपति (सम्यक् प्रतिपत्तिः), षुषुषा, दाशभतकषि,
अठवषाभिसितषा (-स्य), पियष (-स्य,)
पानषतषहषे (प्राणशतसहस्रे), शतषहष (शतसहस्रमात्रः),
अनुषये (अनुशयः), धंमानुशथि (धर्मानुशिष्टि-),
षमचलियं (समचर्या,) इ० इ० ।

तालव्य श—पशवति (प्रसूते), शवपाशंडानं (सर्वपाषण्डानां)
शालवढि (सारवृद्धिः), शिया (स्यात्)
पकलनशि (प्रकरणे) इ० इ०

श ष के इन अनियंत्रित प्रयोगों से विद्वानों ने ऐसा निर्णय किया है कि कालसी में सामान्य प्रचार स का ही मानना चाहिये, ये श और ष लेखक के (लहिया के) लिपिदोष से आ गए हैं। आगे चलकर, इन श कार और स कार की चर्चा करनी होगी।

पूर्व के लेखों में स्वार्थ क का प्रयोग बढ़ता जाता है। काला सी टोपरा के लेखों में यह प्रयोग अधिक होता है। यहाँ के लेखों की एक और विशेषता क और ग का तालुकरण है, खास तौर से क का—

कालसी — नातिक्य, चिलथितिक्य, चिलठितिक्य,
 ष्वामिक्येन, कलिग्येषु, अलिक्यपुदले।

टोपरा — अढकोसिक्य (*अष्टक्रोशिक्य), अंबावडिक्य (आम्रवा-
 टिका)।

क्वचित् कचित स्वरान्तर्गत क का घोषभाव होता है।

अन्तियोग—Antiochus (गिरनार-अन्तियक),

अधिगिच्य, हिद लोगम्।

स और र युक्त संयुक्त व्यंजनों में स और र का सावर्ण्य होता है :

अठ (अष्टन्-,-अर्थ-), सव, अथि (अस्थि-)।
निखसंतु, अंबा- (आम्र-)।

संयुक्त व्यंजनों में त और व के अनुगामी य का इय होता है, द और क के अनुगामी य का सावर्ण्य होता है।

अज (अद्य), मभ (मध्य-), उदान (उद्यान-), कयान (कल्याण-), पजोहतविये (प्रहोतव्यः), कटविये (कर्तव्यः), एक-तिया (गिरनार-एकचा), अपवियाता (अल्पव्ययता), वियंजनते (व्यंजनतः), दिवियानि (कालसी—दिव्यानि), ।

अन्यत्र भी—मधुलियाये (मधुरतायै),

संयुक्त व्यंजनों में व्यंजन के अनुगामी व का उव होता है, किन्तु शब्दान्तर्गत त्व का त्त होता है—

सुवामिकेन (स्वामिकेन), कुवापि (क्वापि), आतुलना (आत्वरणा) चत्तालि (चत्वारि)।

स्म, ष्म का फ होता है, किन्तु सप्तमी ए० व० का प्रत्यय स्मि, सि ही है :

तुफे, अफाक, येतफा (एतस्मात्)

क्ष का सामान्यतः ख होता है, कुछ अपवाद भी हैं :

मोख, खुद। छणति (क्षणति)।

अकारान्त पु० नाम के प्र० ए० व० के,-अस् का -ए सार्वत्रिक है।

वर्तमान कृदन्त के-मीन, धौली जौगड़ में मिलते हैं :

पायमीन, विपतिपायमीन।

पूर्व की भाषा के ये लक्षण हमारे लिए मागधी अर्धमागधी के प्राचीनतम उदाहरण हैं। मागधी अर्धमागधी के लक्षणों की चर्चाएं काफी हो चुकी हैं। मागधी का दूसरा प्राचीनतम उदाहरण जोगीमारा-रामगढ़ का है। यह उदाहरण है छोटासा, किन्तु करीब-करीब अशोक का समकालीन है, और ल्युडर्स ने इसकी भाषा की ठीक आलोचना की है।

शुतनुक नाम देवदशिक्यि
तं कमयिथ बलनशेये
देवदिने नम लुपदखे।

इस छोटे से लेख की भाषा की सभी विशेषताओं की तुलना अशोक की पूर्व की भाषा के साथ हो सकती है।

क का तालुभाव : देवदशिक्यि, अकारान्त पु० प्र० ए० व० का -ए प्रत्यय, र का ल : लुपदखे, बलनशेये। इसके अतिरिक्त स और श का श होना, जो मागधी की विशिष्टता है किन्तु अशोक के पूर्व के लेखों में भी अनुपलब्ध है वह हमें यहाँ मिलती है। अशोक के लेखों में पूर्व का श नहीं मिलता, मध्यदेश का स कार ही मिलता है। मागधी का श कार है तो पुराना इसमें शक नहीं। डॉ : चेटर्जी का सूचन है कि श कार ग्राम्य गिना जाता होगा, इससे इसको अशोक की राजभाषा में प्रवेश न मिला, और स कार शिष्टता की वजह से प्रयुक्त होता है। शकार की ग्राम्यता के दूसरे आधार भी मिलते हैं। नाटकों के प्राकृतों में नीच पात्र मागधी का व्यवहार करते हैं, और यहाँ स श का श होना उनकी मागधी की खास विशिष्टता है। अश्वघोष के नाटकों में— जो नाटकों के प्राकृत के प्राचीनतम उदाहरण हैं— ल्यूडर्स के मतानुसार, प्राचीन मागधी का प्रयोग किया गया है। उनके एक नाटक का खलपात्र 'दुष्ट', मागधी का प्रयोग करता है। इस पात्र की भाषा की अशोक की पूर्व की भाषा के साथ और जोगीमारा की मागधी के साथ तुलना की जा सकती है। अश्वघोष का प्राकृत, अशोक के प्राकृत से तीन चार शतक अर्वाचीन होते हुए भी, साहित्यिक शैली में लिखे जाने से, हमारे पुराणप्रिय देश में कुछ पुरानापन निभाता है, यह स्वाभाविक ही है। 'दुष्ट' की भाषा के ये लक्षण—र का ल, स श का श, अकारान्त पु० प्र० ए० व० का –ए

मागधी के लक्षण ही हैं। इनके अतिरिक्त कई लक्षण ऐसे भी हैं जो उत्तरकालीन वैयाकरणों की मागधी से मिलते नहीं, किन्तु वे प्राचीन मागधी के सूचक हैं—स्वरान्तर्गत असंयुक्त व्यंजन अविकृत रहते हैं, न का मूर्धन्यभाव नहीं होता, सर्वनाम के रूपाख्यानों में व्यक्ति वाचक के प्र. पु. ए. व. में अहकम्– जो हगे का पुरोगामी है– का प्रयोग होता है। इन आधारों पर ल्यूडर्स खलपात्र की इस भाषा को प्राचीन मागधी कहते हैं, और नाटकों की मागधी का यह पुरोगामी स्वरूप है ऐसा अभिप्राय प्रदर्शित करते हैं। अगर इसे प्राचीन मागधी कहा जाय और यह कहने में कोई खास दिक्कत नहीं, तो अर्धमागधी का स्वरूप क्या होगा ?

अर्धमागधी शब्द का अर्थ क्या ? आगम साहित्य में वारवार ऐसा कहा गया है कि भगवान अर्धमागधी भाषा में उपदेश करते हैं। अश्वघोष के नाटकों की भाषा की सहायता इस वारे में मिल सकती है। उनके नाटकों का एक पात्र गोवं. ल्यूडर्स के मत के अनुसार, अर्धमागधी का व्यवहार करता है। उसकी भाषा के लक्षण ये हैं : -अस् > -ए, र > ल, और श, स > स। प्रथम दो लक्षण उसको मागधी के साथ मिलाते हैं, किन्तु तीसरा उसको मागधी से अलग करता है। इसके अतिरिक्त अकारान्त नान्यतर नामों के द्वि. व. व. के पुप्फा, वाक्यसंधि में पुप्फा येव, हेत्वर्थ कृदंत भुंजितये, वर्तमान कृदंत गच्छमाने, स्वार्थिक-क की वहुलता ये सव लक्षण उल्लेखनीय हैं। पुप्फा और भुंजितये का साम्य अर्धमागधी से ही है, और श, स > स होना अर्धमागधी का ही लक्षण है। इन आधारों से ल्यूडर्स इस पात्र की भाषा को प्राचीन अर्धमागधी कहते हैं। भरत के नाट्यशास्त्र के प्रख्यात विधान के अनुसार, नाटकों में अर्धमागधी का प्रयोग स्वाभाविक ही है। उत्तरकालीन नाटकों में यह प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु अश्वघोष के पात्र की भाषा को प्राचीन अर्धमागधी कहने में कोई आपत्ति नहीं।

वस्तुतः, अगर भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो, इस समय की, पूर्व की भाषा के वोलीभेद कितने ? और किस तरह के ? अशोक की पूर्व की भाषा के लक्षण—अस् > -ए, र > ल, श, स > स, और कंठयों का तालुकरण। अश्वघोष की प्राचीन मागधी के लक्षण—अस् > -ए, र > ल, श, स > श। एक ओर हम अश्वघोष की मागधी और

जोगीमारा लेख रख सकते हैं, और दूसरी ओर अशोक की पूर्व की भाषा और अश्वघोष की अर्धमागधी को रख सकते हैं। इन दो बोलियों का एक मात्र भेदक लक्षण श और स का उच्चारण है। इतने कम आधार पर बोलीभेद नियत नहीं किए जाते। एक ही बोली-विस्तार में बोलियों की भेदरेखा खिंचते समय हमारे सामने, कुछ अधिक प्रमाण में और स्पष्ट रूप में ध्वनिभेद की रेखाएँ होनी चाहिए।

बुद्ध और महावीर प्रायः एक ही काल में और एक ही स्थल में धर्मोपदेश करते थे, इससे दोनों की व्यवहार भाषा भी एक ही होगी। उस प्रदेश की मान्य भाषा, जो कि सर्वत्र समझी जाती होगी, उनकी व्यवहार भाषा होगी। अत्यंत ग्राम्य प्रयोग उनकी भाषा में आने का संभव कम है, और फिर भी जिन आचार्यों ने उनके उपदेशों का संग्रह किया उन्होंने भी ऐसे ग्राम्य प्रयोगों को उनके साहित्य में रक्खा नहीं होगा। इससे ऐसा भी हो सकता है कि श और स दो बोलीविभागों की भेदरेखा न हो किन्तु शिष्टता और ग्रामीणता का सूचक हो। उस प्रदेश का स्वाभाविक उच्चारण श हो, किन्तु शिष्ट उच्चारण स हो, और ऐसी परिस्थिति असाधारण नहीं। वर्तमान भाषाप्रदेशों में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। बुद्ध और महावीर उच्च कुल के राजकुमार थे, उनकी रहन-सहन, शिक्षा इ. के प्रभाव से शिष्ट प्रयोग ही उनके मुख से हुए हों यह स्वाभाविक है।

तब, इस समय में—ईसा के पहले प्रथम पांच शतकों में—पूर्व की भाषा के बोलीभेद नियत करने के—मागधी अर्धमागधी के भेद नियत करने के—कोई आधार हमारे पास नहीं। जिस भाषा में महावीर ने उपदेश किया होगा, वह भाषा, उपरिकथित पूर्व की भाषा के लक्षणों से युक्त भाषा होगी, इतना ही अनुमान हो सकता है।

हमने आगे चर्चा की है कि बुद्ध और महावीर के उपदेश उनकी ही भाषा में मिलना आज संभव नहीं, बौद्धों की पालि वा मागधी, जैनों की अर्धमागधी, मूल उपदेश की संवर्धित-विवर्धित आवृत्तियां ही हो सकती हैं, कहीं अल्प परिवर्तन, कहीं अधिक परिवर्तन। जैन आगमों की भाषा, जिनको सामान्यतया अर्धमागधी कहा जाता है, वह उपरिकथित पूर्व की भाषा से दो तरह से भिन्न है। स्थल दृष्टि

से और काल दृष्टि से। आगमों की प्राकृत विकसित प्राकृत है। उसका स्थान, प्राचीन की अपेक्षा मध्यकालीन प्राकृतों के साथ है।

प्राकृत भाषाओं के विकास को भाषाइतिहास की दृष्टि से तीन वा चार खंड में विभाजित करते हैं। प्राचीनतम प्राकृत के उदाहरण अशोक के लेखों में और पालि साहित्य के कुछ प्राचीन अंशों में मिलते हैं। इस काल की विशेषताएं संक्षेप में ये हैं—ऋ और ऌ का प्रयोग खत्म होता है। ऐ औ, अय अव का ए, ओ, अंत्य व्यंजन और विसर्ग का लोप, इस अंतिम प्रक्रिया से सब शब्द स्वरान्त होते हैं, और कुछ अविकृत रहते हैं। संयुक्त व्यंजनों में से कुछ में सावर्ण्य होता है, और कुछ अविकृत रहते हैं विशेषतः र युक्त, और कहीं कहीं ल युक्त। स्वरान्तर्गत व्यंजनों का घोषभाव -जैसे क का ग- अपवादात्मक रूप से होता है, किन्तु विरल है, यह अपवाद भाषा की भविष्य की गति का सूचक होता है। यह प्राकृतों की प्रथम भूमिका।

दूसरी भूमिका के प्राकृतों में निय प्राकृत, अश्वघोष के नाटकों के प्राकृत, प्राकृत धम्मपद और खरोष्ठी लेखों की प्राकृतें आती हैं। इस भूमिका में स्वरान्तर्गत असंयुक्त व्यंजनों का घोषभाव और तदनन्तर घर्षभाव होता है। घर्षभाव की प्रक्रिया नियप्राकृत में स्पष्टतया मिलती है। यह अवस्था शब्दान्तर्गत असंयुक्त व्यंजनों के संपूर्ण ह्रास की पूर्वावस्था है।

प्राचीन अर्धमागधी- आगमों की भाषा में जो कुछ प्राचीन हिस्से मिलते हैं जैसे कि आचारांग और सूत्रकृतांग के कुछ अंश, इस भूमिका की अन्तिमावस्था में आ सकते हैं। इस समय में घोषभाव की प्रक्रिया सर्वसामान्य है, किन्तु स्वरान्तर्गत व्यंजनों का सर्वथा लोप नहीं होता, स्वरान्तर्गत महाप्राणों का ह भी सर्वथा नहीं होता।

तीसरी भूमिका में आते हैं साहित्यिक प्राकृत, नाटकों के प्राकृत, और वैयाकरणों के प्राकृत। इन प्राकृतों में अन्यान्य बोलियों के कुछ अवशेष रह जाते हैं, किन्तु इनका स्वरूप केवल साहित्यिक ही है। इस भूमिका में स्वरान्तर्गत व्यंजनों का सर्वथा ह्रास होता है, और महाप्राणों का सर्वथा ह होता है। मूर्धन्यों का व्यवहार बढ़ जाता है।

चौथी भूमिका के प्राकृत – अन्तिम प्राकृत – को हम अपभ्रंश कहते

हैं। यह साहित्यिक स्वरूप हमारी नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का पुरोगामी साहित्य है। यह केवल साहित्यक स्वरूप है, बोली भेद अत्यंत न्यून प्रमाण में दृष्टिगोचर होते हैं। अधिकांश, पूर्व से पश्चिम तक एक ही शैली में लिखा गया यह केवल काव्य साहित्य है।

प्राचीन आगम साहित्य को हम दूसरी और तीसरी भूमिका के संक्रमण काल में और शेष आगम साहित्य को तीसरी भूमिका में रख सकते हैं। स्थल की दृष्टि से, अर्धमागधी पूर्व की भाषा होते हुए भी कालक्रम से पश्चिम-मध्यदेश-के प्रभाव से अंकित होने लगी। इस वास्ते पूर्व के श की जगह अर्धमागधी में स का प्रयोग शुरू होता है, पूर्व के -अस् > -ए की जगह पश्चिम का -ओ भी आगमों में व्यवहृत होता है, यद्यपि प्राचीन -ए भी आगमों में कई जगह सुरक्षित है ही। पूर्व के ल की जगह पश्चिम का र भी धीरे-धीरे व्यवहृत होता जाता है। इन सबसे यही सूचित होता है कि आगमों की पूर्व की भाषा का पश्चिमी संस्करण आगमों की भाषा का महत्त्व का प्रकार है। जैनधर्म पूर्व में पैदा होकर पश्चिम और दक्षिण में फैला, और वहां ही उसके साहित्य के प्रथम संस्करण हुए। इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मगध-पाटलिपुत्र के ह्रास के बाद साहित्य और संस्कृति के केन्द्र भी पश्चिम में जा रहे थे।

३

प्राकृत का उत्तरकालीन विकास

बुद्ध और महावीर के काल में प्रतिष्ठित होने के बाद प्राकृतों का विकास समग्र आर्य भारतीय भाषाप्रदेश में होता है। अश्वघोष के समय में तो ये प्राकृतें साहित्यिक स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं। अन्याय नाटको में तरह तरह के पात्रों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के प्राकृतों का व्यवहार होता है इससे यह सूचन होता है कि प्राकृत स्थिर साहित्यिक स्वरूप में बढ़ रहे थे। अब, प्राकृतों का विकास जारी रहता है, किन्तु स्थलकाल की दृष्टि से इनका इतिहास मिलना मुश्किल हो जाता है। साहित्यिक स्वरूप फैलते चले, और एक तरह का शिष्ट प्राकृत पैदा हुआ जिसने अन्य प्राकृतों की विशिष्टताएं अपना लीं—जैसे, अनेक बोलियों-में से जब एक बोली शिष्ट स्वरूप पाती है तब वह अन्य बोलियों की अनेक विशिष्टताएं अपना कर आगे बढ़ती है। इससे हमारी समक्ष एक ही प्राकृत विविध रूपसे प्रगट होता है। प्रथम शौरसेनी प्राकृत के रूप में, पश्चात् महाराष्ट्री के रूप में। ये प्राकृत, उनके नाम के अनुसार किसी विशिष्ट प्रदेश की भाषाएं नहीं, किन्तु प्राकृतों की दो ऐतिहासिक भूमिका मात्र हैं। शौरसेनी में स्वरान्तर्गत असंयुक्त व्यंजनों का घोष-भाव होता है, और वह घोष व्यंजन होकर महाराष्ट्री में संपूर्णतया नष्ट होता है त का द होकर अ—। घर्षभाव की इस भूमिका के उदा-हरण हमको भारतीय भाषाओं से मिलते नहीं, किन्तु, ध्वनिदृष्टि से व्यंजन लोप के पूर्व यह आवश्यक भूमिका है। और नियप्राकृत में हमको घर्षव्यंजन मिलते हैं, जिससे यह प्रक्रिया साधारण बनती है। घर्षभाव की यह भूमिका ईसा की प्रथम शताब्दी के काल में आर्य-भाषाओं में व्यापक होनी चाहिए, इसका अनुगामी विकास— व्यंजनों-का सर्वथा लोप— भारतीय भाषाओं में सार्वत्रिक ही है। इस काल में, भारतीय लिपि में घर्षभाव व्यक्त करने की कोई संज्ञा न होने से लेखकों के सामने कठिनाई पैदा हुई होगी। खरोष्ठी लिपि में लिखे गए प्राकृत साहित्य में लहियाओं ने घर्षभाव व्यक्त करने का यह प्रश्न व्यंजन को र वा य जोड़ कर हल किया है। ब्राह्मी लिपि में ऐसी कोई व्यवस्था न होने से घर्षभाव व्यक्त करने के लिए घोष व्यंजन लिखना या अघोष,

या अ लिखना ऐसे प्रश्न बारबार लहियाओं के सामने आते होंगे। त के लिए द, द के लिए त, क के लिए ग, ग के लिए क, वा सब के लिए य, अ, ऐसे भ्रम जब नियप्राकृत में हमको मिलते हैं, तब उसके उत्तरकालीन प्राकृतसाहित्य में जहां यह ध्वनि विकास सार्वत्रिक हो रहा था वहां यह प्रश्न अधिक संकुल हो गया होगा। शौरसेनी में यह प्रवृत्ति शुरू होकर महाराष्ट्री में पूर्ण होती है। स्वरान्तर्गत असंयुक्त व्यंजन का सर्वथा लोप होता है। यह होते ही अनेक शब्द, जो प्राचीन भाषा में विविध थे, वे समान ध्वनिवाले बन जाते हैं मअ=मद-, मत-, मृग-, मृत-; कोई भी भाषा इतना अर्थभार सहन नहीं कर सकती। इसका परिणाम यह होता है कि उस भाषा के शब्दकोष में खूब परिवर्तन होता है, और अलग अलग अर्थ प्रदर्शित करने के लिए नये नये शब्द पड़ौसी भाषाओं से भी लिए जाते हैं। एक ही साथ शब्दों का ह्रास और वृद्धि होती चली। इन उद्वृत्त स्वरों के स्थान पर आगम साहित्य में कभी कभी त कार आता है। यह त कार अधिकांश दो स्वरों को निकट न आने के लिए लिखा जाता है। कभी कभी भाषा में व्यंजनों का ऐसा आगम होता है जैसे फ्रैन्च में भी ऐसी परिस्थिति में त कार प्रयुक्त होता है। व्यंजनों की घर्षभूमिका के काल में लिपि-की त्रुटि से घोषअघोष की और व्यंजनलोप की गड़बड़ी को लक्ष्य में रखकर, आगमों की इस त श्रुतिका मूल्यांकन करना चाहिए। अधि-कांश यह त कार लिपि की एक प्रणालिका का सूचक है, बोलचाल का नहीं, यह ख्याल करना चाहिए।

शौरसेनी, वा उसका प्रकृष्ट स्वरूप-विकसित स्वरूप-महाराष्ट्री, हमारी समक्ष किसी प्रदेश वा समय की व्यवहार भाषा की हैसियत से आती नहीं, हम उसको सिर्फ साहित्यिक स्वरूप में ही पाते हैं। इस दृष्टि से प्राकृतों का विकास, संस्कृत की तरह ही होता है। उत्तरकालीन प्राकृतों में हमारे पास सिर्फ एक ही तरह की प्राकृत भाषा का प्रधानतया साहित्य विद्यमान है। अगर व्यवहार का प्राकृत हमारे लिए बचा होता, तो इस विशाल भारत देश में अनेक प्रकार के प्राकृत पाए जाते। जैसे वर्तमान काल में पूर्व पश्चिम वा मध्यदेश और उत्तर में अनेक प्रकार की आर्य भारतीय भाषाएं विद्यमान हैं वैसे ही अनेक तरह के भिन्न भिन्न प्राकृत व्यवहार में होंगे। वैयाकरणों ने भी प्रधानतया एक ही प्राकृत की आलोचना की है, बोलीभेद के बहुत कम निर्देश इनमें

मिलते हैं। अधिकांश तो ध्वनि और व्याकरण के भेद की अपेक्षा वैयाकरणों ने अन्य प्राकृतों के नाम लेकर भिन्न भिन्न प्रकार के कुछ शब्द प्रयोगों की ओर लक्ष्य खिंचा है। साहित्यकारों ने भी जो भिन्न भिन्न नाम दिये हैं जैसे प्राच्या, अवन्तिजा इ. वहां भी बोलीभेद की बजाय सिर्फ शब्दभेद (changes of vocabulary) के उल्लेख किए हैं। समग्र भारत में साहित्यिक स्वरूप में तो एक ही तरहके प्राकृतका व्यवहार होता रहा है। पहले जो संस्कृत की दशा थी वह आगे चल कर प्राकृत की दशा होती है, और उससे आगे अपभ्रंश की भी वही दशा है। भारतीय भाषाइतिहास की यह एक विशिष्टता है— प्राचीन काल की कोई भी भाषा संस्कृत, प्राकृत वा अपभ्रंश तत्कालीन व्यवहार भाषा से सीधे सम्बन्ध न रखकर शिष्ट ढंग से विकसित होती रही। शिष्ट प्रणालिका अनुसार उनमें कुछ न कुछ विकास होता रहा, बोलचाल की भाषा के प्रतिबिम्ब उनमें पड़ते रहे, किन्तु आमप्रजा का जीवन और शिष्टों का साहित्य दोनों की बीच एक स्पष्ट व्यवधान रहता आया है। भाषाअभ्यासियों के लिए इन शिष्ट स्वरूपों का महत्त्व मर्यादित है। वर्तमान व्यवहारभाषाओं की सहायता से ही वह प्राचीन काल की बोलियों का अनुमान कर सकता है, और इस अनुमान के लिए उपलब्ध प्राचीन शिष्टभाषाओं से जो सहायता मिलती है वह केवल पूरक हो सकती है। इन शिष्टभाषाओं में व्यवहारभाषा के प्रतिबिम्ब अवश्य आते रहे हैं, और उनको अलग करके वह भाषाइतिहास को सुसम्बद्ध कर सकता है। ऋग्वेद में स्वरान्तर्गत-ड-और-ढ-का उच्चारण -ळ और -ळह- होता है ऐसा विधान हमको मिलता है। यह उच्चारण ऋग्वेद के बाद साहित्य में मिलता नहीं। यह खासीयत तत्कालीन उदिच्य की बोली की है, इससे ही हमको द्वादश के लिए * दुवाडस > दुवालस और उसके बाद भारतीय भाषाओं के 'बारह', 'बार' इ० मिलते हैं। उदिच्य का यह 'ग्राम्य' उच्चारण ऋग्वेद को छोड़ कर कहीं भी मिलता नहीं। उसका कारण है, शिष्टता का आग्रह। ऐसा दूसरा उदाहरण हमको मिलता है स्वार्थिक -क का। वर्तमान भारतीय भाषाओं के इतिहास की दृष्टि से यह -क प्रत्यय महत्त्व का है। वर्तमान बोलचाल की भाषा के अधिकांश शब्द इस -क द्वारा विकसित संस्कृत शब्दों से पैदा हुए हैं। प्राचीन संस्कृत में भी -इ -उ वा -अ युक्त -क प्रयुक्त होता था, अवेस्ता से भी कुछ उदाहरण मिलते हैं।

शुष्क, अवे० हुष्क, सं—अस्माकम्, अवे० अन्हाकम् । पहले यह -क शायद लघुता सूचक होगा, किन्तु कई जगह उसका प्रयोग इसके सिवा भी होता है -जैसे सन, सनक, वीर, -वीरक इ० । व्यवहार में दीर्घ स्वर युक्त -क -ईक, -ऊक, -आक, के प्रयोग भी काफी होंगे । वेद में हमको पावक शब्द मिलता है, जिसका उच्चारण पवाक होना चाहिए, उसका आधार है वैदिक छन्द व्यवस्था, मूल पवा- होने से ही उसका स्त्रीलिंग मिलता है पावका । अगर मूल में पावक उच्चार होता तो व्याकरण के अनुसार उसका स्त्रीलिंग पाविका होना चाहिए । व्यवहार के ये दीर्घस्वरयुक्त -क युक्त उच्चारण शिष्टभाषा में जीते नहीं, किन्तु कभी-कभी उनके प्रतिबिम्ब मिलते ही हैं, जैसे—छोटे जीव-जन्तु के नाम, जो प्रायः बोलचाल की भाषा की शिष्टता को देन होगी, मण्डूक, उलूक, पृदाकु, वल्मीक इ० । यहाँ दीर्घस्वरयुक्त -क का प्रयोग व्यवहार की देन है । वल्मीक का -ल पूर्व की बोली का सूचक है, र युक्त शब्द भी मिलता है वम्र, वम्रक । (देखो, वाकरनागेल, आल्तीन्दिश ग्रामातिक II. I. 45, ब्लोख् 'लाँदो आर्या' पृ० १११, बटकृष्ण घोष 'लिंग्विस्टिक इन्ट्रोडक्शन टु संस्कृत' प्रकरण तीसरा) ।

प्राकृतों का विकास संस्कृत के अनुसार होता है । सच तो यह है कि संस्कृत से भी अधिक कृत्रिमता से यह साहित्य बढ़ा है । संस्कृत जैसी विषयों की विपुलता प्राकृत में नहीं, प्रायः प्राकृत अमुक धर्म के अनुयायियों की ही भाषा बनी रही, और एक ही तरह की शैली और रूढ़ि का प्रयोग होने से उसका शब्दकोष इतना विपुल नहीं । प्राकृतों के आरम्भ काल के बाद भी भारतीय इतिहास में संस्कृत का उदय काल आने से पढ़े-लिखे सभी शिष्टजन फिर से संस्कृत में ही रचनायें करने लगे, और प्राकृतों का विकास कुण्ठित ही रह गया । इस दृष्टि से 'प्रकृतिः संस्कृतम्' का एक ही अर्थ हो सकता है—प्राकृत का आदर्श (model) है संस्कृत । उस आदर्श के अनुसार प्राकृत का विकास होता है । जैसे मूल में शिष्टता का आदर है वैसे उनकी प्रतिकृति में भी । भाषाअभ्यासी के लिए इन प्राकृतों की महत्ता इस लिए है कि यह साहित्य वैदिक कालकी आर्यभाषा और वर्तमान काल की बोल-चाल की आर्य भाषा की एक आवश्यक अवान्तर अवस्था है । यद्यपि व्यावहारिक बोली में उपलब्ध स्थल काल के भेद उसमें मिलने मुश्किल हैं, तथापि उसकी यह महत्ता तो है ही । स्थलकाल के भेद तो हमको वर्त-

मान भाषाओं को छोड़ कर समग्र भारतीय भाषाओं में कहाँ मिलते हैं? भारतीय भाषाओं के अभ्यास की समग्र दृष्टि से आलोचना करते हुए ज़ुल् ब्लोख उनके ग्रंथ 'लाँदो आर्या दु वेद ओ तां मोदेर्न' पृ० ३७१-७२ में कहते हैं—

"योरपीय भाषाओं की तुलना में सुविकसित भारतीय आर्य भाषाओं का शब्द कोष विपुल है। किन्तु योरपीय भाषाओं के शब्दों में जैसी अर्थ की सूक्ष्मता और मानसिक सन्दर्भ (subtlety and psychological associations) हैं, वैसे उनमें नहीं। रोमान्स भाषागण और भारतीय आर्य भाषागण के विकास में असाधारण साम्य होते हुए भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय आर्य भाषा के विकास में शिष्टों का लेखन आर्य जनता में प्रवेश पा न सका, और आम जनता में से उनमें नये नये प्रवाह आ न सके, गति न मिली। इस तरह साहित्य और संस्कृति के बीच व्यवधान बढ़ता चला।

पठन पाठन की प्रणालिका तो प्राचीन काल से चली आई है, किन्तु उस प्रणालिका में भाषा की समृद्धि और सूक्ष्मता का गहराई से अध्ययन जैसा योरप में होता था वैसा यहाँ होता नहीं। इस तरह का अध्ययन केवल आधुनिक ही है। हमेशा एक ही भाषा का अध्ययन, होता रहा, वह भाषा थी संस्कृत। वह भाषा विद्वानों में मर्यादित थी और उसका प्रयोग ज्ञान का अवतरण और उच्च प्रकार के चिंतन के लिए ही सीमित था। बोलचाल की भाषाओं के नमूने हमारे पास कितने कम हैं। मराठी के कुछ भक्ति के ग्रंथ और शिलालेख, थोड़े से राजपूत काव्य, बंगाल से उपलब्ध कहावतों के दो संग्रह, ये सब या तो भाटों के कवित्त हैं या धार्मिक या व्यावहारिक काव्य हैं। अधिकांश, यह साहित्य ब्राह्मणों के बड़प्पन का विरोधी है, और आम प्रजा के लिए लिखा गया है। उसकी प्रेरणा तो ब्राह्मण साहित्य से आती है, और उसका आदर्श उस पंडिताऊ साहित्य को हटाने का नहीं, सिर्फ लोकभोग्य रचना करने का ही है।

महाराष्ट्री काव्यों और संस्कृत नाटकों के प्राकृत आर्य प्रजा की भाषा से किसी तरह से संबद्ध नहीं और संस्कृति का जो चित्रण उनमें है वह भी मर्यादित उच्च वर्ग की प्रजा का है, जिनका आदर्श तो संस्कृत ही था। पैशाची में लिखी गई मशहूर बृहत् था के जो कुछ

अंश उपलब्ध हैं उनसे मालूम होता है कि ये भी आम जीवन से काफी दूर हैं।

इन सब हकीकतों से प्रश्न उठता है: हमारे पास बोलचाल की भाषा के प्राचीन नमूने कितने हैं ? अगर कहा जाय कि अशोक के शिलालेख और जैनों तथा बौद्धों के धार्मिक ग्रंथों को नमूने के तौर पर गिन सकते हैं—तो उनमें भी अशोक के शिलालेख नियत वाक्य रचना (rigid syntax) के ही हैं, और इस सब साहित्य का आदर्श तो संस्कृत ही रहा है और उसी शिष्ट संस्कृति की छाप उन पर दृष्टिगोचर होती है।"

भाषा विज्ञान का एक सिद्धांत है —भाषा शून्य में विकसती नहीं। कसी भी भाषा अन्य भाषाएं और समाज के संसर्ग से ही बढ़ती है। 'शुद्ध' भाषा जैसा कुछ नहीं, जैसे 'शुद्ध' प्रजा जैसा कुछ नहीं। प्रथम व्याख्यान में ही मैंने बताया है कि जिसको हम आर्य भाषा, आर्य भाषा गण, इण्डो युरोपियन, आर्य ईरानी, आर्य भारतीय इत्यादि अभिधान लगाते हैं वे सिर्फ सहुलियत के लिए हैं। सिर्फ लेबल हैं। नये नाम प्रचलित न होने से हम ये पुराने नाम इस्तेमाल करते हैं। अभी तो Indo-Iranian, Indo-Aryan की जगह सिर्फ Iranian, Indian ऐसे अभिधान इस्तमाल करने का मौका आ गया है। हम अब जानते हैं कि इस भाषा का व्यवहार करने वाले सिर्फ 'आर्य' कभी थे नहीं। अमुक भाषा का व्यवहार करने वाला एक जनसमूह था, और उस जनसमूह की भाषा को हम आर्य भाषा कहते हैं। यह भूलना न चाहिये कि उस जनसमूह में हमेशा अनेक तरह की जातियों की बस्ती होगी।

आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में अनेक तरह की आर्येतर प्रजाएँ विद्यमान थीं। उनके आगमन काल में पश्चिम में और दक्षिण में—और हिरोदोतस के आधार पर—ग्रीक -दिहइ, संस्कृत, दस्यु फारसी -दिह "बसाहती प्रदेश"—दूर उत्तर में भी द्राविड़ों की बस्ती थी, मध्य में मुन्डा और पूर्व में सीनोतिबेटन भाषाएं विद्यमान थीं। इन सब पर, क्रमशः आर्यों का प्रभुत्व बढ़ता गया। इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम यही हो सकता है कि इन तलभाषाओं के(substratum languages) अनेक तत्त्व आर्य भाषा गण में सम्मिलित हो गये होंगे। प्राचीन संस्कृत में भी इन आर्येतर तत्त्वों की खोज ठीक ठीक आगे बढ़ी है। सिलवां लेव्हि, भ्सां प्रिभुलस्की और ल भु ब्लोख के निबंध संग्रह

प्री आर्यन एण्ड प्री द्रविडीअन, डो. चेटर्जी, डो. बरो इ० विद्वानों के निबंध, इस विषय का दिशासूचन करते हैं। इस क्षेत्र में अभी बहुत सी बातें विचारणीय हैं। इन तलभाषाओं का प्राचीन साहित्य विद्यमान नहीं, हमारा उन भाषाओं का ज्ञान भी मर्यादित है, और वर्तमान आर्येतर भाषाओं पर संस्कृत का प्रचंड प्रभाव, ये सब बातें इस विषय को अधिक संकुल करती हैं, और हमको उन तलभाषाओं का अनुमान तुलनात्मक और ऐतिहासिक पद्धति से करना पड़ता है। ओक्सफर्ड के अध्यापक डो० बरो और अमेरिका के प्रोफेसर इमेनो द्रविड भाषाओं का तुलनात्मक कोष तैयार करते हैं, और आशा है कि यह कोष, हमारे लिए डो० टर्नर के नेपाली कोष का पूरक होगा। इस प्रकार के अनुसंधान के बाद ही तलभाषाओं का आर्य भाषा पर के प्रभाव का कुछ अनुमान हो सकेगा।

इस स्थान पर भाषाविज्ञान के एक महत्त्व के प्रश्न की कुछ आलोचना आवश्यक है—तलभाषा परभाषा को किस तरह से प्रभावित करती है? भाषा विज्ञान में इस प्रश्न की बार बार आलोचना होती है। और सब जगह स्पष्ट चेतावनी दी जाती है— खास आधार न हो वहां तलभाषा के प्रभाव को over-estimate नहीं करना चाहिए।

भाषा अत्यंत गतिशील तत्त्व है। भाषा का ध्वनिस्वरूप हमेशा सूक्ष्म रीति से पलटता रहता है। जब ध्वनिस्वरूप बदलता है तब उस पर स्थित व्याकरण स्वरूप भी बदल जाता है। हरेक भाषा क उसकी अनोखी ध्वनिरचना होती है, और उस भाषासमाज का हरेक व्यक्ति उन ध्वनियों का स्वाभाविक रीति से व्यवहार कर सकता है। परभाषा के ध्वनि का उच्चारण, किसी भी खास तालीम वा वातावरण का प्रभाव न मिलने पर, यथास्वरूप रहता नहीं। इससे जब किसी भाषा पर परभाषा का प्रभाव शुरू होता है, और परभाषा के शब्दों का आगमन होता है, तब उन तलभाषा में आते हुए परभाषी शब्दों की ध्वनियां पलट जाती हैं। सामान्यतः आगन्तुक परदेसी शब्दों की ध्वनियां तल भाषा के शब्दों की ध्वनियां से मिलती जुलती बन जाती हैं।

जैसे अंग्रेजी शब्द रोड—road (roud) goal (goul) के स्वर संध्यक्षर स्वरूप-ओउ- हैं, गुजराती में ऐसे स्वरयुग्म शब्द के

आदि वा मध्य में पाये जाते नहीं, इससे ऐसे अंग्रेजी स्वरयुग्मवाले शब्द जब गुजराती में आते हैं, तब वे उनके ध्वनिस्वरूप छोड़कर गुजराती में 'ओ' स्वर से प्रयुक्त होते हैं– रोड, गोल। अंग्रेजी का 'र' वर्ण वर्प ध्वनि है, और शब्द में जब स्वर के वाद आता है तब उसका उच्चारण होता ही नहीं, जब यह 'र' वर्ण वाले अंग्रेजी शब्द गुजराती में आते हैं, तब वह गुजराती के 'र' वर्ण – जो tapped ध्वनि है –की तरह वोला जाता है। इस तरह नये आगन्तुक शब्द अपनी निजी ध्वनियां छोड़ देते हैं और उनके स्थान पर देशी भापा की उनकी निकटतम ध्वनियों को अपना लेते हैं।

हमारे शब्द जब अंग्रेजी में जाते हैं, तब उनकी ध्वनियां अंग्रेजी के ध्वनितंत्र के अनुसार वदल जाती हैं। समग्र प्रजा कभी अपना उच्चारणतंत्र वदलती नहीं, आगंतुक शब्दों को ही उनका उच्चारणतंत्र पलटना पड़ता है। आगन्तुक शब्द दूसरी भापा की उच्चारणव्यवस्था को वदलते नहीं, आप ही बदल जाते हैं।

प्राचीन भारतीय आर्य भापा जब अनेक आर्येतर प्रजाओं के संसर्ग में आने लगी तब उसके शब्द भंडार पर विपुल असर होने लगा। आर्य परदेसी थे। इस प्रदेश की वनस्पति और पशुसृष्टि, भौगोलिक परिस्थिति, जनसमूह के रोजवरोज के रीतरसम और धार्मिकमान्यताएं, इन सबके लिए शब्द तो उनको यहां के निवासियों से ही लेने पड़े। सिर्फ शब्दभंडार ही नहीं, किन्तु अनेक तरह का सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव आर्यों पर पड़ा होगा। इस प्रभाव से आर्य प्रजा के जीवन और भापा में पलटा भी आया।

इस आर्येतर प्रभाव के मूल तो वेद से ही मिलते हैं। वेद में अनेक आर्येतर शब्द हैं, और उनकी खोज भी ठीक ठीक हो चुकी है। वेद ब्राह्मणरचित साहित्य होने से, आम जीवन की परंपरा मर्यादित रूपसे ही हम को मिलती है, इससे वेद में आर्येतर प्रभाव का कुछ इंगितमात्र ही मिल सकता है। किन्तु, आर्येतर प्रभाव प्रवल था पूर्व के वोली प्रदेशो में, जो कि आर्यों के सांस्कृतिक प्रभाव से दूर थे, जहां उदिच्य और अन्तर्वेदिकी सांस्कृतिक पकड इतनी मजवूत न थी, और जहां आर्य भापा आर्येतर प्रजाओं के बीच में विकसती थी, प्राकृतों का

विकास उधर होता है। इससे वहां की आर्यभाषा के विकास में आर्येतर प्रजाओं का विशेष हिस्सा हो सकता है।

यहां, जो आगे कहा गया है, उसका स्मरण रखना चाहिए। ये देशी भाषाएं – आर्येतर भाषाएं – आर्य भाषा को प्रभावित करती हैं, किन्तु उनके प्रभाव से आर्यभाषाओं के ध्वनिस्वरूप में परिवर्तन नहीं होता। भाषा स्वभाव से ही गतिशील तत्त्व है, उसकी गतिका दिशासूचन उसके निजी ध्वनितंत्रसे ही होता है, पडौसी भाषाओंसे तो उसको मिलता है वह गतिका प्रेरक बल। क्वचित् ही, एक भाषा दूसरी भाषा के ध्वनियों को अपनाती है। एक नया वर्ण (Phoneme) भाषा में आने से भाषा के समग्र ध्वनिस्वरूप और व्याकरणस्वरूप को पलटना पड़ता है। कुछ उदाहरणों से यह विधान स्पष्ट होगा।

मूर्धन्य वर्णों का विकास भारतीय आर्य भाषाओं की एक विशिष्टता है। ये मूर्धन्य ध्वनियाँ समग्र इन्डोयुरोपियन भाषागण में खास संयोगों में स्वीडीश और नोर्वेजियनको छोड़कर सिर्फ भारतीय गण में ही पाई जाती है। द्राविडी और मुन्डा भाषा विभागों में दंत्य और मूर्धन्य की दो स्पष्ट वर्णमालाएँ हैं। स्वाभाविक है कि ऐसा तर्क होगा —आर्यों के मूर्धन्य वि ास को द्राविडी और मुन्डा के मूर्धन्यों के साथ कुछ संबंध है।

ऐतिहासिक भाषाशास्त्र से मालूम होता है कि प्राचीनतम आर्य भारतीय भाषास्तर में ही मूर्धन्यों का वि ास प्रारंभ हो चु ा था। इन्डोयुरोपियन के तालुकल्प कंठ्यवर्ण (Palatal gutturals– $\hat{k}$, $\hat{kh}$, $\hat{g}$, $\hat{gh}$ संस्कृत में श छ ज ह (झ) रूपों में वि सते हैं। इन श छ ज ह के सान्निध्य में आने वाले दंत्यवर्ण मूर्धन्य हो जाते हैं। अलबत्ता, इन श छ ज ह के प्राचीन उच्चारण कुछ भिन्न प्र ार के होंगे। मृज् + त = मृष्ट- राज् + त्र = राष्ट्र-, यज् का अयाट्, वह् का अवाट्। इस विधान की समग्र चर्चा आप ो वटकृष्ण घोष, वाकेरनागेल इत्यादि संस्कृत भाषा के इतिहास ग्रंथों में मिलेगी। हमारे लिए यह माहिती इतना सूचन करती है कि प्राचीनतम आर्य भारतीय में ही, अमुक नियत संयोगों में दंत्यों के मूर्धन्य होने का प्रारंभ हो चुका था। इसके इन्डोयुरोपियन झ के सान्निध्य में आनेवाले दंत्यवर्ण मूर्धन्य

वैदिक दुळभ <* दूडभ *दूष्-दभ्<* दूष्-दभ्, नीडः <*नि-ष्ज्-अ< *नि-ष्ज्-अ< *नि-स्द-अ <*नि-सद्। इसके अलावा वेद में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ र के सान्निध्य में आनेवाले दंत्यवर्णों के मूर्धन्य होते हैं।

इन नियत संयोगों में, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में मूर्धन्य वर्णों का विकास आरंभ होता है। यहाँ, अभी कोई द्राविडी या आर्येतर शब्द आता नहीं— ये शब्द इन्डोयुरोपियन गण के ही हैं। भारतीय आर्य भाषा का यह ध्वनिविकास उसकी ध्वनिव्यवस्था की विशेषता है, उसके ध्वनितंत्र का परिणाम है। ज्यों ही भारतीय आर्य में मूर्धन्य वर्ण के उच्चारण की शक्यता शुरू होती है त्यों ही तल-भाषाओं के मूर्धन्य वर्ण वाले शब्दों को भारतीय आर्य भाषा में आने की सुविधा हो जाती है। जो प्रक्रिया अमुक नियत संयोगों में ही होती थी उसको अधिक वेग मिला, और जहाँ ऐसे संयोग न थे वहाँ भी मूर्धन्य वर्णों का विकास बढ़ा। वेद में मूर्धन्य वर्ण डेढ़ प्रतिशत मिलते हैं, और यह गति मिलने से, प्राकृत और पालि काल में खूब बढ़ जाते हैं। मूल में जो ध्वनि विकास की सम्भावना थी उसको तलभाषा ने वेग दिया।

मागधी की विशिष्टता है अकारान्त नामों के प्र. ए. व. – अस्> –ए। उसका प्रारम्भ तो होता है वेद काल में ही। अमुक नियत संयोगों में ही– जहाँ अनुगामी दन्त्य था वहाँ अस् का –ए होता था: सुरे दुहिता, एधि (अस्-धि <*अस् धि)। कालक्रम से यह –ए, पूर्व की बोलियों के प्रभाव से, कदाचित् यहाँ की तल भाषा का प्रभाव हो, सार्वत्रिक होकर पूर्व की बोली का विशिष्ट अंग बनता है।

तलभाषा गतिप्रेरक बल है, किन्तु मूल में जहाँ गति की सम्भा-वना भी न हो, वहाँ वह नई प्रक्रिया पैदा नहीं कर सकती।

संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण प्राकृतों के ध्वनि विकास का एक महत्व का लक्षण है। प्राचीन भारतीय आर्य में जब भक्त, रक्त जैसे संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण में उनके अंगभूत दोनों व्यंजनों का स्फोट होता था— क्त में क् और त का स्फोट (explosion) होता था। डोः चेटर्जी ने उनके Indo Aryan and Hindi में इस प्रक्रिया की विशद आलोचना की है। उस काल में उच्चारण करने वाली प्रजा में

धातु और प्रत्यय की भावना (root-sense) जागृत थी, इससे यह आदत उस काल की उच्चारण प्रक्रिया की विशिष्टता थी। रक्त भक्त में ज्+त और मज्+त ऐसा ख्याल स्पष्ट था। जब हम किसी व्यंजन (stop consonant) का उच्चारण करते हैं तब दो प्रवृत्तियाँ होती है implosion और explosion। पहले क्षण, जीभ अन्दर से बाहर आते वायु को रोक कर तालु के किसी भाग वा buccal cavity के किसी भाग के साथ चिपक कर रहती है। दूसरे क्षण उस वायु को मुक्त करने के लिये फिर अपने स्थान पर आ जाती है। पहली क्षण implosion कही जाती है, दूसरी explosion। पहली क्षण में उच्चारण श्राव्य नहीं, किन्तु वह दूसरी क्षण की आवश्यक पूर्वावस्था है। दूसरी क्षण में श्राव्यमाण ध्वनि का आकार इस पहली क्षण में ही नियत होता है। दूसरी क्षण में वह ध्वनि स्फुट होती है। प्राचीन भारतीय आर्य के संयुक्त व्यंजन के उच्चारण में, जब root sense जागृत थी, तब रक्त और भक्त जैसे शब्दों में क्त के दोनों व्यंजनों का स्फोट होता था। दोनों explosive होते थे। आज कल अंग्रेजी में भी ऐसा होता है कालक्रम से इस root-sense का विस्मरण होने से उच्चारण में र-क्त, भ-क्त जैसे विभाग होने लगे, और वहां संयुक्त व्यंजन में जो बलवान था उसका ही explosion हुआ, दूसरा implosive ही रह गया। कालक्रम से implosive वर्णका सावर्ण्य (assimilation) होने से एक ही व्यंजन का उच्चारण होने लगा। यह प्रक्रिया भी ठीक ठीक प्राचीन है, प्रातिशाख्यों में इसकी आलोचना की गई है। संयुक्त व्यंजन का पहला व्यंजन -सन्नतर-पीडित- कहा जाता है, उसका अभिनिधान –संधारण–होता है। जब दोनों वर्णों का स्फोट होता है, रक्–त तब पहला syllable संवृत (close) होगा, किन्तु जब एक का ही स्फोट होगा र–क्त, तब पहला syllable विवृत (open) होगा। इससे इस प्रक्रिया के परिणाम से close syllable का उच्चारण open हो गया। इसके फलस्वरूप स्वरों के ह्रस्वदीर्घत्व, स्वराघात, (stress-accent) सबमें परिवर्तन हो गया। प्राचीन आर्यभाषा की नादप्रधान उच्चारण पद्धति बदल कर मध्य भारतीय आर्य के काल में बल प्रधान हो गई। अलबत्ता, इस विषय में आज हमारा ज्ञान सीमित है, और अनुसंधान भी कम हुआ है।

इस तरह के हेरफेर होने पर भी प्राकृतों की व्यंजन व्यवस्था

तात्त्विक दृष्टि से संस्कृत से भिन्न नहीं। पांच वर्ग—कंठ्य, तालु, मूर्धन्य, दंत्य, ओष्ठ्य, हरेक वर्ग में एक अल्पप्राण घोष और अघोष, एक महाप्राण घोष और अघोष, और एक एक अनुनासिक। जो कुछ परिवर्तन होता है वह स्पर्शवर्णों के प्रयत्नभेद का है, व्यवस्था system का नहीं। प्राचीन भारतीय से मध्य भारतीय आर्य का यह विकास अवेस्ता से फारसी में होते हुए विकास से अलग है। हमने देखा कि सप्त मध्य भारतीय आर्य में सत्त होगा। फारसी में व्यंजन का सावर्ण्य नहीं होता किन्तु पहला व्यंजन घर्ष हो जाता है, और तव हप्त से हमको हफ्त मिलता है। इस प्रक्रिया से फारसी में नई ध्वनियों का विकास होता है, मध्य भारतीय आर्य में ऐसे विकास की कोई आवश्यकता न रही।

मध्य भारतीय आर्य का यह व्यंजन विकास प्राकृत बोलनेवालों की शिथिलता अज्ञान, आलस्य का परिणाम है ऐसी मान्यता गलत है। भाषा का यह क्रम ही है कि प्राचीन तत्त्वों को छोड़ती जाय और नये का स्वीकार करती जाय। आजकल के हिन्दी वोलने वालों को पता न होगा कि आसौज शब्द के अश्व-युज् ऐसे दो भाग थे, गुजराती वोलने वालों को पता नहीं कि पधारो शब्द पंद्रहवीं शताब्दी में 'पाउ-धारउ' वोला जाता था। ऐसा ज्ञान न होना शिथिलता वा आलस्य नहीं। जो प्रक्रिया पिछली पीढ़ी में हो गई, उसका ख्याल आनेवाली पीढी को कैसे हो सकता है? उस प्रक्रिया का प्रभाव (logical effects) तो पड़ता है, किन्तु उसके कारण का खयाल सवको कैसे हो सकता है? और, अगर प्राकृतों के व्यंजनों का सावर्ण्य को आलस्य गिना जाय तो फारसी के घर्षभाव को आधा आलस्य गिनना रहा न?

भाषापरिवर्तन के बीज उसकी ध्वनि व्यवस्था में पड़े होते हैं। कोई उच्चारण सरल या कठिन नहीं। हरेक भाषा की अपनी निराली ध्वनि व्यवस्था होती है। एक सरल या दूसरी कठिन इस तरह किसी भाषा के बारे में कहना साहस है, और शिष्टों की जवान कठिन और ग्रामीणों की सरल यह भी इतनी ही साहस की वात है।

व्यंजनों के सावर्ण्य की यह घटना है तो प्राकृत काल की विशिष्टता किन्तु यह प्रक्रिया काफी प्राचीन है, और वेद में भी मिलती है। उच्चा में उत्-अलग है, अवेस्ता में मिलता है उस्-च, मज्ज्-मज्जति का संबंध मिलता है 'मद्गु' पानी में रहती मछली से। ई० पू० के तीसरे

शतक के चन्द्रगुप्त नाम के ग्रीक संस्करण में मिलता Sandrakottos भी इसी प्रक्रिया का सूचक है।

प्राकृतों के इन महत्त्व के ध्वनि परिवर्तनों में और भी कुछ गिना जा सकता है।

आर्य ईरानी काल के *अइ *अउ संध्यक्षर प्राचीन भारतीय आर्य में ए और ओ हो जाते हैं, और * आइ * आउ का ऐ और औ होता है। प्राकृत काल में -मध्यभारतीय आर्य में —ये ए ऐ ओ औ के ए और ओ होते हैं। स्वरों का जो परिवर्तन वैदिक काल में ही शुरू हो चुका था वह प्राकृत में आगे बढ़ा।

ऋ का विकास अ इ उ में होता है, और इस विकास के बीज ऋग्वेद में काफी हैं। उसके अनेक उदाहरण ऋग्वेद में भी मिलेंगे।

प्राकृतकाल में अंत्य व्यंजन का उच्चारण स्फुट नहीं होता था, इससे अंत्य व्यंजनों का लोप होता है। अंत्य उष्मवर्ण और म् का स्पर्शत्व भी कम- नहिवत्—हो गया था।

स्पर्श वर्णों की उच्चारण व्यवस्था जैसी थी वैसी ही रहती है। आदि में स्पर्श वैसा ही रहता है। महाप्राण घोषवर्ण भ और घ के स्पर्शत्व का लोप प्राचीन है। अघोष स्पर्श वर्ण कुछ अधिक समय टिकते हैं, ई. पू. ३०० से ई. पू. १०० तक इन सबका घोषभाव हो जाता है। पुराने घोषवर्णों की जगह पर व्यंजनश्रुति स्वर आ जाते हैं—ड और ढ छोड़कर।

हमने देखा की ध्वनिव्यवस्था के महत्त्व के परिवर्तन के बीज प्राचीन भारतीय आर्य में पड़े ही थे, तल भाषाओं ने इनको वेग देकर आगे बढाए। तल भाषा का आर्य भाषा पर का प्रभाव इस दृष्टि से ही evaluate करना चाहिए। इससे ज्यादा नहीं।

जब ध्वनिव्यवस्था पलटती है, तब अपने आप व्याकरण व्यवस्था भी पलटी है। जब कोई एक वर्ण पलटता है तब जहाँ जहाँ वह वर्ण आयगा वहाँ सब जगह पलटा होगा, और यह परिवर्तन सारे व्याकरण तंत्र को भी पलटा देगा। इस दृष्टि से यदि हम प्राकृतों के व्याकरणी तंत्र पर दृष्टिपात करेंगे तो मालूम होगा कि उसके परिवर्तित व्याकरणी तंत्र का सारा आधार उसके परिवर्तित ध्वनितंत्र पर ही है।

प्राकृतों में अंत्य व्यंजन के लोप से, व्यंजनांत शब्द रहते नहीं। यह परिवर्तन होते ही नाम के रूपाख्यानों में पलटा आ जाता है। संस्कृत के अनेकविध रूपाख्यानों की जगह मुख्यत्वे -अ-इ-उ अन्तवाले नाम ही रह जाते हैं, और उनके ही रूपाख्यान रहते हैं। अन्त्यस्वर के ह्रस्वदीर्घत्व का परिवर्तन होने से (length of the final vowels) प्राकृत के रूपाख्यानों में ह्रस्व दीर्घ के रूपाख्यानों का भेद नष्ट हो गया।

शब्दों की जाति (grammatical gender) में भी पलटा आने लगा, क्यों कि उनके अस्तित्व का आधार शब्द का अन्तिम भाग ही था, और वह पलटने लगा था। इस परिवर्तन का सब कारण यही है—शब्द का अंतिम वर्ण के उच्चारण की prominence घटती चली, इससे उसका उच्चारण दुर्वल होकर कालक्रम से नष्ट हो गया, और उसके फलर रूप शब्द के अन्तिम भाग पर आधार रखने वाली जितनी व्याकरणी प्रक्रियाएँ थीं उन सवकी भेद रेखाएं कम हो गईं।

ध्वनितंत्र के परिवर्तन पर आधार रखनेवाला दूसरा महत्त्व का व्याकरणी परिवर्तन है –संध्यक्षरों का विकास। प्राचीन भारतीय आर्य में ही आर्यइरानी काल के * अइ * अउ के ए, ओ हो गए थे, सिर्फ * आइ * आउ का ऐ और औ होता था। यह प्रक्रिया आगे वढ़ी और प्राकृत में इन सवका, ए, ऐ, ओ, औ का, ए और ओ हो गया। ऐ और औ के ये परिवर्तन होने से ही इन दो वर्णों पर आधार रखने-वाली जितनी व्याकरणी प्रक्रियाएं थीं उन सव पर प्रभाव पड़ा, और महत्त्व के परिवर्तन हो गए।

पहले तो द्विवचन का नाश हो गया, कारण द्विवचन के– औ वाले रूप प्राकृत में –ओ वाले हो जायेंगे और ऐसा होते ही प्राकृत के प्रथमा एकवचन के –ओ कार में और द्विवचन के-ओकार में भेद ही न रहा, और भाषा ऐसी ambiguity सहन नहीं कर सकती इसलिए द्विवचन को विदा लेना पड़ा।

तृतीया वहुवचन के– ऐः का –ए होते ही वह –ए सप्तमी के –ए के साथ टकराता है। इससे एक विलक्षण परिवर्तन हुआ कि तृ. व. व. के लिए– ऐः की जगह प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का एक पुराना

बोली स्वरूप-एभिः को पुनर्जीवन मिला और तृ. ब. व. के लिए -एहि का प्रचार हुआ।

प्राकृत इकारान्त और उकारान्त (ह्रस्व दीर्घ-इ-ई-उ-ऊ के भेद प्राकृत में मिट चुके हैं) नामों के चतुर्थी और षष्ठी ए. व. के प्रत्यय हैं -इणो, -उणो-इसिणो, भाणुणो इ०। औ का ओ होते ही यहाँ सप्तमी और षष्ठी की अव्यवस्था होगी, इससे पालि में तो यह सप्तमी बहुत जगह पर अव्ययों के लिए मर्यादित हो गई, जैसे आदो-आदौ, रत्तो-रात्रौ, प्राकृतों में चतुर्थी षष्ठी का भी भेद नहीं, इसलिए अधिक भ्रम पैदा होने की सम्भावना थी इससे इकारान्त और उकारान्त नाम के चतुर्थी षष्ठी के प्रत्ययों के रूपाख्यान में तृतीया की तरह -ण का आगम हो गया। (देखो-वाकरनागेल, आल्तीन्दिश ग्रामातिक III 41)

अन्त्य व्यंजन का नाश होते ही अकारान्त नाम के पंचमी ए. व. का रूप प्रथमा व० व० के साथ ही टकरायगा, यह भ्रम टालने के लिए पंचमी के लिए पुराने सार्वनामिक प्रत्ययों का आधार लिया गया। जैसे स्मात्- पालि वीरस्मा, प्राकृत वीरम्हा।

अन्त्य व्यंजन का नाश, और स्वरों के इन परिवर्तनों से पुरानी प्रत्यय व्यवस्था टूट पड़ी, और इससे अनेक प्रकार के post-positions का विकास हुआ, जिसका महत्त्व (morphological function) वर्तमान भारतीय आर्य भाषा में बढ़ गया है।

इस तरह से व्याकरणीतन्त्र के परिवर्तन के बीज पड़े होते हैं ध्वनितन्त्र के परिवर्तन में। आज तो समय भी नहीं है, और मेरी गुंजाइश भी इतनी नहीं, किन्तु वास्तव में मध्य भारतीय आर्य भाषा का समग्र व्याकरणीतन्त्र को ध्वनितन्त्र के परिवर्तन से समझना चाहिए। भाषा दृष्टि से अभी तक प्राकृतों का व्याकरण लिखा गया ही नहीं। यह कार्य भविष्य का है।

यह कह कर मैं इस बात पर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं कि संस्कृत से प्राकृत में, प्राचीन भारतीय आर्य से मध्य भारतीय आर्य में, ध्वनि तन्त्र के जो परिवर्तन होते हैं, उनके बीज तो प्राचीन भारतीय आर्य में ही मौजूद थे। कालक्रम से उनका विकास होता है,

आर्येतर भाषाओं से उनको गति मिलती है। ध्वनितन्त्र के परिवर्तन से ही समग्र व्याकरणीतन्त्र में पलटा आ जाता है।

इस दृष्टि से जब विचार करते हैं तब भारतीय आर्य भाषाओं के विकास का दूसरा महत्त्व का तत्त्व दृष्टिगोचर होता है। वह है भारतीय आर्य भाषाओं की एकता। आर्य भाषा भारत में अनेक आर्येतर प्रजाओं के बीच में विकसी, स्थिर हुई। इन आर्येतर भाषाओं में कई भाषायें काफी विकसित थीं, उनका साहित्य भी विद्यमान था। इतने विशाल देश में आर्य भाषा उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक फैल गई, और अनेक आर्येतर भाषाओं के गाढ़ सम्पर्क में आने पर भी हमको आर्य भाषा का इतिहास अविच्छिन्न रूप से मिलता है। उसकी एकसूत्रता हम स्पष्टता से प्रत्यक्ष कर सकते हैं। ऐसी एकता के उदाहरण समग्र इण्डोयुरोपियन गण में, रोमान्स गण को छोड़कर कहीं भी मिलते नहीं। इतना अविच्छिन्न विकास किसी अन्य इण्डोयुरोपियन भाषा का मिलता नहीं। इसका कारण शायद वही होगा जिसकी हमने गर्हणा की है-शिष्टों का प्रभाव-उनके प्रयत्न से ही, शायद यह भाषा छिन्न विच्छिन्न नहीं होने पाई, एक तरह की एकता सुरक्षित रही। इस एकता ने भारतीय संस्कृति की एकता पैदा करने में अपना हिस्सा दिया है।

भारतीय भाषाशास्त्र के किन अंगों का अनुसंधान अब आवश्यक है। उसकी आलोचना भुल् ब्लोख ने अपने 'फर्लोंग लेक्चर्स' में काफी की है, और इसमें कुछ कहने का रहा नहीं। किन्तु प्राकृतों को लक्ष्य में रखकर, जैन साहित्य के अनुसंधान में हम क्या कर सकते हैं वह मैं आपको कुछ सूचित करने का साहस करता हूं।

पालि साहित्य का संशोधन श्रीमान और श्रीमती राइस डेवीस के प्रयत्नों से पाली टेकस्ट सोसाइटी द्वारा काफी हो चुका है। मूल ग्रंथों के संशोधित प्रकाशनों से पालि भाषा और साहित्य के संशोधन को वेग मिला। गाइगर का पालि भाषा और साहित्य, चाईल्डर्स का पालि कोश, मलाल सेकर का पालि विशेषनामों का कोश, और एन्डर्सन, हेल्मर स्मीथ, एजर्टन इत्यादि के पालि भाषा के विषय में अनुसंधान, इस सब प्रवृत्ति से पालि भाषा और साहित्य का अध्ययन आज संगीन हो गया है। मूल ग्रंथों के संशोधित प्रकाशन के बाद ही भाषाकीय वा सांस्कृतिक संशोधन संगीन हो सकते हैं।

शिलालेख के प्राकृतों की आधारभूत आवृत्तियाँ एपिग्राफिका इण्डिका द्वारा, ओझा जी, सनार, हुळहा, बुल्नर, कोनाउ के संशोधनों से हमारी समक्ष व्यवस्थित स्वरूप से प्राप्त हैं। इससे आवृत्तियों के आधार पर शिलालेखों के प्राकृतों की भाषा का अध्ययन भी हो सका है। मेहेन्दले का स्थल काल की मर्यादाओं को लक्ष्य में रखकर किया हुआ शिलालेखों के प्राकृतों की भाषा का अध्ययन, ब्लोख का अशोक की भाषा का अभ्यास, इत्यादि महत्त्व के संशोधन हमको मिलते हैं।

भारत बाहर के प्राकृतों की आवृत्तियां और उनकी भाषा के संशोधन ल्यूडर्स के ब्रुकष्टुक डेर बुद्धिस्टिशन ड्रामेन से, डो. बरो के और सनार और बरूआ के अध्ययनों से मिलते हैं।

नाटकों के प्राकृतों, और वैयाकरणों के प्राकृतों के भी काफी प्रकाशन और अध्ययन हो चुके हैं। प्रीन्ट्स का और सुखथनकर का भासकी भाषा का अभ्यास, ग्रियर्सन, वैद्य, नित्तिदोलची इ० का प्राकृत व्याकरणों का संपादन संशोधन हो चुका है। किन्तु आजपर्यन्त नाटकों के प्राकृतों के संपादन में बिलकुल अराजकता फैली हुई है। हमारे विद्यापीठों में संस्कृत, प्राकृत और पालि के अभ्यासक्रम में इतने watertight compartments हैं कि भारतीय भाषा और साहित्य का अविच्छिन्न इतिहास एम. ए. तक के अभ्यास में किसी विद्यार्थी को नहीं कराया जाता। जहाँ तक भाषाओं के अभ्यास में हमारी दृष्टि विशाल न होगी वहां तक यह अराजकता रहेगी ही। इस विषय में अधिक कहता नहीं, किन्तु आपको पं. सुखलाल जी का लखनौ प्राच्यविद्या परिषद में प्राकृत विभागके प्रमुखपदसे दिया हुआ व्याख्यान पढने का सूचना करता हूं।

प्राकृतों के यह सब अंगों के संपादन संशोधन में महत्त्व की त्रुटि रहती है जैन साहित्य के अनुसंधान की और विशेष रूप से आगम साहित्य के संपादन की। साहित्यिक प्राकृतों की कुछ आवृत्तियां हमारे पास हैं। मुनि चतुरविजय, पुण्यविजय संपादित सुदेश हिंडी, वेवर की गाथासप्तशती, डो. उपाध्ये के अनेक महत्त्व के संपादन द्वारा हमारी समक्ष प्राकृत साहित्य का कुछ आशास्पद संग्रह हो चूका है। किन्तु आगम साहित्य के होर्न्ले के उवासगदसाओ, शुब्रिंग के आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध, और शार्पान्तिए के उत्तराध्ययन को छोडकर आगमों की

अच्छी आवृत्तियां कहां ? आज सबसे अधिक महत्त्व प्राकृत साहित्य के संशोधन में इन आगमों के व्यवस्थित संपादन का है। पिछले कई सालों से मुनि पुण्यविजय के परिश्रम से पाटण, खंभात, जैसलमेर इनके भंडारो से अनेक प्राचीन प्रतियों का पुनरुद्धार हो रहा है, और पुरोगामी विद्वानों को उपलब्ध न थी ऐसी कई प्रतियाँ प्रकाश में आई हैं, और आज, हमको उन प्रतियों का उपयोग करना चाहिए। पाठ-निर्णय के शास्त्रीय सिद्धांतों के अनुसार प्रतियों की पाठपरंपरा नियत करने के वाद ही व्यवस्थित संपादन शक्य होगा। हरेक आगम की आवृत्ति के साथ उसका शव्दकोष, उसकी भाषा, उसका अन्य प्राकृत साहित्य से संबंध, अन्य परंपरा से उसकी तुलना, इत्यादि सव काम होना चाहिए। इस संशोधन का आनुषंगिक काम चूर्णि और निर्युक्तियों का संपादन होगा। इन ग्रंथों की भाषा शैली का अभ्यास मध्य भारतीय आर्य के भाषा िकास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है, यह वात आज तो एजर्टन के वुधिस्ट संस्कृत के मूल्यवान संशोधनों में स्पष्ट है।

आपने देखा होगा कि पिछले कुछ सालों से इस शास्त्रीय संपादन के कार्य से भारतीय भाषाविज्ञान के अध्ययन को असाधारण वेग मिला है। पूना के महाभारत के संपादन से महाभारत के नीचे वहता प्राकृतों का प्रवाह स्पष्ट होता जा रहा है। इस तरह से जैन आगमों के व्यवस्थित संपादन संशोधन से हम जैन, वौद्ध, हिंदु, अर्धमागधी पालि वा महाभारत की भाषापरंपरा एक दूसरे से कितनी निकट थी वह भी हम देख सकेंगे।

ऐसे संपादनों से ही हमारे पास प्राकृत कोश तैयार होगा। और ऐसे कोश के वाद ही प्राकृत व्याकरण लिखा जा सकेगा। पीशल का प्राकृत व्याकरण पचास साल पहले प्रकाशित हुआ उनको समक्ष न थी संशोधित आवृत्तियाँ, न उन्होंने शिलालेखों का उपयोग किया, न पालि का। आज-तो ऐसे व्याकरण ी आवश्यकता है जहाँ हम सव तरह के प्राकृतों का जैन वा वौद्ध धार्मिक साहित्य, शिलालेखों के प्राकृत, नाटकों के प्राकृत, साहित्यिक प्राकृत, वैयाकरणों के प्राकृत और भारत वाहर के प्राकृत का समग्र दृष्टि से ख्याल कर सकें। ऐसा व्याकरण ही एक ओर वैदिक और दूसरी ओर से अपभ्रंश और नव्य भारतीय आर्य भाषा को संलग्न कर सकेगा। संपादन और कोश के पहले व्याकरण नहीं हो

सकेगा। रोथ और बोथलिंक के बृहत् कोश के बाद ही व्हिटनी और वाकरनागेल के मशहूर व्याकरण शक्य हो सके। आगमों का संपादन संशोधन हमारा पहला काम है।

आज जैन समाज अपने साहित्य और इतिहास को उदारता से देख सकता है। प्रस्तुत व्याख्यानों का आयोजन भी उस उदार दृष्टि का परिणाम है। अनेक तरह की संशोधन प्रवृत्तियों को उससे सहारा मिला है। माणिक्यचंद्र ग्रंथमाला, सिंघी ग्रंथमाला, सन्मति प्रकाशन, इ० के द्वारा संशोधन को वेग मिल रहा है। अनेक व्यक्ति और संस्थाएँ इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण संशोधन बौद्धिक उदारता से कर रहे हैं। मुनि पुण्यविजय, पं० सुखलाल जी तो आप ही संस्थारूप हैं, और ऐसी कई प्रवृत्तियों को वेग दे रहे हैं।

इन सब व्यक्तियों और संस्थाओं को हम विनति करते हैं कि अब आगमों का संपादन संशोधन भी ऐसी उदार दृष्टि से किया जाय। ऐसे काम के बिना जैन साहित्य और संस्कृति का इतिहास अपूर्ण ही रह जायगा, और भारतीय भाषा इतिहास का एक प्रकरण अलिखित रह जायगा। मुझे आशा है कि मेरी इस अपील में आप सब साथ देंगे, और यह काम शीघ्र ही आरंभ होगा।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

(इन व्याख्यानों में भाषा विषयक जिन ग्रंथों का उपयोग किया गया है, उन्हीं की सूची यहाँ दी जाती है।)

Introduction a letude comparative des langues indo europeennes. Antoine Meillet. Paris, 7th edition 1931.

Les dialectes indo-europeens. Antoine Meillet second edition Paris.

L' Indo-Aryen du Veda au temps modernes. Jules Blcch, Paris 1934.

Altindische Grammatik. Jacob Wackernagel. vols I, II. 1., III. Gottingen, 1896, 1905 & 1930.

Grammatik der Prakrit-Sprachen, R. Pischel. Strassburg 1900.

Pali Language and Literature (Eng. Tran.) W. Geiger.

Inscriptions of Asoka. Hultzch. Oxfod 1925.

Historical Grammar of Inscriptional Prakrits. M. A. Mahendale Poona. 1948.

Comparative Grammar of Middle-Indo-Aryan. Sukumar Sen. Calcutta 1951.

Bruchstucke Buddistischer Dramen. H. Lueders.

The Language of the Kharosthi Documents. T. Burrow. London 1937.

Some Problems of Indo-Aryan Philology. Furlong Lectures by Jules Bloch published in the Bulletin of the School of Oriental Studies vol. V. 4, 1930.

Prakrit Languages and their Contribution to Indian culture. S. M. Katre. Bombay 1945.